सरस एकांकी नाटक

रामकुमार वर्मा

सरस एकांकी नाटक

(सात सरस एकांकी नाटकों का संग्रह)

संपादक

डा० रामकुमार वर्मा एम. ए., पी-एच. डी.

इलाहाबाद युनिवर्सिटी

इलाहाबाद

प्रकाशक

हिन्दी-भवन

जालंधर और इलाहाबाद

मूल्य १॥)

हिन्दी एकांकी नाटक

प्राचीन नाटक

सृष्टि के विकास में मनुष्य की परंपरा बहुत पुरानी है। इस शृंखला में यदि नर वानर की संतति है तो नर को अपने पूर्वजों की अनुकरण-शीलता आनी स्वाभाविक है। अपने पूर्वजों की परंपरा चलाने में नर का गौरव भी है। और यदि 'दशरूपकम्' के रचयिता धनञ्जय ने अपने सूत्र 'अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्' में नाटक को अवस्था की अनुकृति माना है तो नाटक सरलता से अपने पूर्वजों की अनुकरण करने की प्रवृत्ति में ही विकसित हो सकता है। बाद में उस अनुकृति की प्रवृत्ति में आचार्यों ने रस भी जोड़ दिया अतः प्राचीन नाटकों में अनुकृति के साथ रस भी संचरित हुआ और वह काव्य के अन्तर्गत आ गया। इस दृष्टि से उसके अनेक भेद हुए। दस रूपकों और अट्ठारह उपरूपकों में क्रमशः रस प्रधान और अनुकृति गौण तथा अनुकृति प्रधान और रस गौण के भेद से दृश्यकाव्य ने अनेक रूप धारण किए। इनमें एक अंक से लेकर नौ अंकों में कथावस्तु का आरंभ से लेकर फलागम तक विस्तार होता रहा। नौ अंकों तक नाटक या प्रकरण और एक अंक में रूपकों के अन्तर्गत भाण, व्यायोग (क्योंकि इसमें एक ही दिन की कथा का विस्तार होता है),

अंक और वीथी तथा उपरूपकों के अन्तर्गत गोष्ठी, नाट्य रासक आदि अन्य उपरूपक आते हैं। इस प्रकार आधुनिक एकांकी की कल्पना आज की नहीं, बहुत प्राचीन है। भले ही उसमें रस और अनुकृति पर विशेष महत्त्व दिया जाता रहा, मनोविज्ञान और अन्तर्द्वन्द्व पर नहीं, जो आज के एकांकी नाटक की विशेषता है।

आधुनिक एकांकी

आज का एकांकी नाटक जीवन के किसी अंग की संक्षिप्त किन्तु चुभती हुई समीक्षा है। जीवन के किसी महत्त्वपूर्ण पक्ष पर एक बार ही तीव्र प्रकाश फेंक कर उसकी समस्त अभिव्यंजना पाठकों के मन तक पहुँचाना एकांकी का उद्देश्य है। घने बादलों के बीच में सहसा बिजली चमक जाय और एक क्षण के लिए समस्त दृश्य आँखों में उतर आवे, यही एकांकी की कला है। चाहे किसी आदर्श की प्रतिष्ठा हो, अथवा किसी यथार्थ का मूल्यांकन, एकांकी घटना में प्राण डाल कर उसे वृक्ष की भाँति पुष्पित कर देता है। यों कहिए कि वह ऐसी वसंत ऋतु के समान है जिसमें प्रत्येक वृक्ष पल्लवित और पुष्पित हो उठता है।

घटना

घटना को प्रभावशाली बनाने के लिए उसका ऐसा अंग चुना जाता है जिसमें वह अच्छी या बुरी हो सकती है। यही उसकी चरम स्थिति है। चरम-स्थिति तक घटना को लाने के लिए कुतूहल आवश्यक है। अतः एकांकी कुतूहलता में ही जन्म लेता है। यह कुतूहलता भी ऐसी होती है जिसका एक चतुर्थांश प्रकट

रहता है, तीन चतुर्थांश घटनाओं के क्रोड में छिपा रहता है जैसे वह सागर में तैरता हुआ एक बर्फ का पहाड़ है जो जहाज में बैठे हुए व्यक्तियों को कपास का छोटा सा पिंड दीख पड़ता है। जब जहाज उससे टकराकर चूर-चूर होता है, तब उसकी विशालता का अनुभव होता है। घटना की सम्पूर्ण व्यंजना भी तब प्रकट होती है जब घटना की चरम सीमा से टकराकर भावनाएँ खंड-खंड होती हैं। इस प्रकार एकांकी की कला व्यंजना-प्रधान है।

पात्र

एकांकी के पात्र सम्पूर्ण नाटक के पात्रों से कहीं अधिक मुखर होते हैं। यदि कोई पात्र मूर्ख है तो वह मूर्खता का प्रतीक है, यदि वह बुद्धि-सम्पन्न है तो अपनी बुद्धि का लोहा वह अन्य पात्रों से मनवा लेता है। जब पात्र अपने अस्तित्व का परिज्ञान कराने में सचेष्ट रहेंगे तभी एकांकी की कला सार्थक होगी। इसी स्थिति में मनोविज्ञान और अन्तर्द्वन्द्व की बात आती है। पात्रों के क्रियाशील होने पर ही उनमें मुठभेड़ होती है और घटनाओं की क्रिया और प्रतिक्रिया उन पर लक्षित होती है। एकांकी के पात्र वर्षाकाल के बीज हैं जो थोड़े वर्षण से ही अंकुरित हो उठते हैं। यदि वे अंकुरित न होंगे तो निश्चय ही सड़ जायँगे। अंकुरित बीज तो एक दूसरे से प्रतिद्वन्द्विता करेंगे कि देखें कौन कितने कम समय में पल्लवित और पुष्पित होता है।

संवाद

और संवाद ? संवाद तो मनोविज्ञान की स्वाभाविक अभिव्यक्तियाँ हैं। जो लेखक इनमें सिद्धान्त की बातें कहते हैं वे जैसे पात्रों के मनोविज्ञान को हटाकर अपने मनोविज्ञान को महत्त्व देते हैं। और कभी-कभी तो ऐसा ज्ञात होता है कि चींटी पर शक्कर का बोरा लादा गया है। बेचारे अबोध और निर्बल पात्रों से ऐसी बातें कहलवाते हैं जैसे तुतलाने वाले शिशु से वेद की ऋचाएँ कहलवाएँ। पात्रों का कथोपकथन स्थिति, आयु, बुद्धि और घटना के अनुसार ही होना चाहिए। नाटककार को छद्मवेशी होकर स्वयं कहना और सुनना शोभा नहीं देता। संवाद को तो मेघ की ध्वनि और दिशाओं से गूंज कर आती हुई प्रतिध्वनि के समान होना चाहिए। ये तो हुई एकाकी-रचना और उसकी कला की सूक्ष्म बातें। अब आइए कुछ नाटककारों से आपका परिचय कराया जावे। सबसे पहले कहने वाले को अपना परिचय देना पड़ता है।

राजकुमार वर्मा

एकांकी का एक निष्ठावान भक्त। पश्चिमी कला से सम्पूर्ण लाभ उठा कर उसके समस्त गुणों को भारतीय नाट्यशास्त्र की मँजी हुई शैली में व्यक्त करने का वह अभ्यासी है। भारतीय संस्कृति उसके लिए सब कुछ है। नये युग की अनुभूतियों को वह अपनी राष्ट्रीयता में उसी भाँति लाना चाहता है जैसे वृक्ष की जड़ भूमि से रस लेकर उसे अपने पत्तों की हरीतिमा में

परिणत करती है। वह मनोविज्ञान का विद्यार्थी है, अतः सिद्धान्तवाद से उसे चिढ़ है। उसके कथानक अधिकतर ऐतिहासिक सामाजिक और पारिवारिक हैं। ऐतिहासिक कथानकों में उसकी विशेष रुचि है। संभव है, अध्ययनशीलता के कारण ही ऐसा हुआ हो! कुछ आलोचकों ने उसे हिंदी में एकांकी कला का जनक कहा है किन्तु अपने इस सम्मान पर वह हिंदी एकांकी पर और अधिक श्रद्धालु हो गया है और पाठकों के प्रति कृतज्ञ। और फिर अपना परिचय ही क्या!

श्री उपेन्द्र नाथ 'अश्क'

समस्या को छू कर उसे सजीव बनाने की क्षमता इन में है। पात्र सजीव और जीवन के सुख-दुख में भाग लेने वाले हैं। ये समस्या का हल चाहे न दें किन्तु स्थिति ऐसी अवश्य बना देते हैं कि पाठक स्वयं समस्या का हल खोजने में प्रयत्नशील हो जाता है। ये अधिकतर अपने कथानक समाज को बिगड़ी हुई परिस्थिति से लेते हैं और उसे या तो और भी बिगाड़ कर पाठकों के हृदय पर चोट करते हैं या सुधार कर हमारी भूल की हँसी उड़ाते हैं। व्यंग्य इनका प्रमुख अस्त्र है जिसे लेकर ये अचूक निशाना लगाते हैं। सुखान्त से अधिक दुःखान्त ही इनके नाटकों की शैली रहती है। शायद अपने नाम 'अश्क' के अनुरूप ये अपने कथानक की दुःखान्त सृष्टि करते हैं।

श्री उदय शंकर भट्ट

ये जीवन के यथार्थ और उसमें निहित संवेदना के बड़े

कुशल कलाकार हैं। करुणा इनकी संपत्ति है और उसका उपयोग ये अपने नाटकों में बड़ी कुशलता के साथ करते हैं। नारी-मनोविज्ञान में इनकी विशेष गति है और उसे ये पूर्ण स्वाभाविकता और व्यावहारिकता से व्यक्त करते हैं। एक ओर तो ये दार्शनिक कथानकों में जीवन के गति-क्रम का अध्ययन करते हैं, दूसरी ओर वे सामयिक नाटकों में हमारे जीवन की समीक्षा करते हैं। भट्ट जी के पास अश्क की तरह व्यंग्य नहीं है, उनमें तो वस्तुस्थिति के चित्रण की नवीनता है। और जैसे चित्रकार अपनी तूलिका के स्पर्शों से अपने चित्र में सुख या दुख का चित्र रेखाओं में उभार देता है, उसी प्रकार ये अपने संवादों के क्रम में जीवन के सुख या दुख को स्पष्ट कर चित्र की भाँति रख देते हैं।

श्री हरिकृष्ण प्रेमी

ये राष्ट्रीय विचारों से ओतप्रोत हैं। अधिकतर इनके कथानकों में इतिहास का हाथ रहता है और ये संयत भाषा और शैली में अपने पात्रों के मुखमंडल पर प्रकाश का बिम्ब डाल कर उनके प्रति हमारी श्रद्धा जागरूक कर देते हैं। इनकी शैली में रंग-मंच के विधान की प्रेरणा सदैव रहती है। घटना के साथ एक वातावरण रहता है जिससे हम पात्रों को उनके घटना-क्रम में देख सकें और हमें व्यंजना और कुतूहलता की आवश्यकता न पड़े। इनके एकांकी नाटक प्रायः पूरे नाटकों के भाग जैसे ज्ञात होते हैं। ये घटनाओं को संक्षिप्त कर उन्हें छोटे संकुचित करने

के पक्ष में नहीं हैं। वे पात्रों को मुखर बना कर उन्हें अवकाश में कथोपकथन करने की स्वच्छन्दता देने में विश्वास रखते हैं।

श्री गणेश प्रसाद द्विवेदी

श्री द्विवेदी विनोद, परिहास और कौतूहल में विशेष आस्था रखते हैं। उनके कथानक प्रायः प्रतिदिन घटित होने वाले प्रसंगों के चित्रण होते हैं। यद्यपि उनका विश्वास सामाजिक परिस्थितियों के परिष्कार का हुआ करता है तथापि उसके साथ ये व्यक्तियों का परिष्कार करने में विशेष सजग रहते हैं। संभवतः इसलिए कि व्यक्तियों से ही समाज का निर्माण होता है और बिना व्यक्ति के परिष्कार के समाज का परिष्कार संभव नहीं होता। उनके नाटकों में अध्ययन की विशेष सामग्री रहती है। इसका यह तात्पर्य नहीं कि इनके पात्र अस्वाभाविक ढंग से चलते हैं। बात इतनी ही है कि ये प्रसंगों का चुनाव ऐसा करते हैं जिसके चित्रण में अध्ययन की सामग्री विशेष रूप से प्रयुक्त हो जाती है। द्विवेदी में साधारण को विशेष बनाने की अद्भुत क्षमता है।

श्री सेठ गोविन्द दास

ये जीवन की मर्यादा और उसमें शालीनता लाने वाले प्रसिद्ध नाटककार हैं। बड़े नाटक के साथ छोटे नाटकों में भी उनका जीवनगत दृष्टिकोण एक विशिष्ट आदर्श को लिये रहता है। कभी-कभी नीति वाक्यों की तरह इनके कथोपकथन में भी एक खास संजीदगी रहती है। ये अपने कथानक ऐतिहासिक, धार्मिक और सामाजिक क्षेत्रों से लेते हैं। भारतीय आदर्शों की

प्रतिष्ठा में ये अपने पात्रों को कभी-कभी अधिक मुखर और क्रियाशील बना देते हैं। मनोविज्ञान के सौंदर्य की अपेक्षा शिवत्व इन कथानकों में प्राण की तरह निवास करता है। कथानक में कुतूहलता रखने में इन्होंने बड़ी सफलता प्राप्त की है। विविध दृश्यों में कथानक का विस्तार करना, नाटक के प्रारम्भ में प्रवेश और अन्त में उपसंहार रखना इनकी शैली की विशेषता है। इन्होंने एकांकी नाटकों में विविध शैलियों का प्रयोग किया है और उसमें ये सफल भी हुए हैं।

<u>श्री जगदीश प्रसाद माथुर</u>

यद्यपि इन्होंने अधिक नाटकों की रचना नहीं की तथापि अपने इने गिने नाटकों में इन्होंने घटनाओं की जो संसृष्टि की है वह जीवन के सत्य को उभारने में अत्यंत मर्मस्पर्शिनी हो गई है। इन्होंने ऐतिहासिक और सामाजिक कथानकों में समानता से सफलता प्राप्त की है। जीवन में संयम और नियमन के ये विशेष समर्थक हैं और इस प्रकार इनके नाटकों में जीवन के वस्तुवाद की तीखी आलोचना है। इनके नाटकों में अधिकतर गंभीर वातावरण रहता है और ये पात्रों को अत्यन्त संयत ढंग से घटनाओं में प्रवेश कराते हैं। फलस्वरूप इनका कथोपकथन भी अधिक मर्यादित और संक्षिप्त होता है। अपनी कला को ये दुःखान्त नाटकों में अधिक सफलता से निखार सकते हैं, सुखान्त नाटकों में नहीं। इनमें नाटकीय कला के प्रायः सभी गुण हैं। यदि ये नाटकों की रचना में अधिक प्रयत्नशील हों तो इनके नाटक अपनी विशेषता के कारण यथेष्ट प्रसिद्धि प्राप्त कर सकेंगे।

इनके अतिरिक्त अन्य एकांकी नाटककार भी हैं जो इस क्षेत्र में साहित्य की सेवा कर रहे हैं। सर्वश्री भगवतीचरण वर्मा, भुवनेश्वर, सत्येन्द्र, गिरिजाकुमार, चन्द्रकिशोर जैन, रामचन्द्र श्रीवास्तव, सद्गुरुशरण अवस्थी, विष्णु प्रभाकर, कमलाकान्त वर्मा, गोविन्दवल्लभ पन्त, नीरव आदि लेखकों की प्रतिभा देख कर यह सरलता से कहा जा सकता है कि हिन्दी एकांकी नाटकों का भविष्य बहुत उज्ज्वल है।

साकेत, प्रयाग — रामकुमार वर्मा

७-८-९

स्नेही बन्धु स्वर्गीय देवचन्द्र नारंग

को

जो साम्प्रदायिक विग्रह में

स्वतंत्रता की बलि-वेदी पर

रक्त-बिन्दु बन कर

समर्पित हुए

—रामकुमार

नाटक-क्रम

रजनी की रात

(डा० रामकुमार वर्मा, एम० ए०, पी-एच० डी०)

नाटक के पात्र

१. रजनी	एक स्वतंत्रता-प्रिय, गंभीर, कुमारी युवती।
२. कनक	एक सतत प्रसन्न कुमारी युवती, रजनी की सखी।
३. आनंद	कनक के भाई। निर्भीक, शिकारी, वीर।
४. केसर	रजनी की नौकरानी।
५. मंगल	रजनी का नौकर।

[काश्मीर प्रदेश। एक पहाड़ी का समतल भाग जैसे सौंदर्य साकार हो गया है। चारों तरफ फूलों के पौधे और लताएँ। एक संभ्रांत परिवार यहाँ कुछ दिनों के लिए वायु-परिवर्तनार्थ आया था। परिवार में वृद्ध पिता युवती पुत्री, दो नौकर और एक नौकरानी थे। आज दोपहर में वृद्ध पिता, एक नौकर के साथ, घर लौट गये। अब यहाँ पर केवल पुत्री, एक नौकर और एक नौकरानी है। युवती का नाम है रजनी। अठारह वर्ष के लग-भग उसकी आयु होगी। गौर वर्ण, सुन्दर मुखमुद्रा और दुबला शरीर। वह सफेद सिल्क की साड़ी पहने हुए है। माथे में बिंदी और अन्य साधारण शृंगार। उसका कुछ गम्भीर व्यक्तित्व है।

रजनी के तम्बू से कुछ दूर पर एक दूसरा परिवार ठहरा हुआ है। उस परिवार में भी एक युवती है। उसका नाम है— कनक। आयु लग-भग रजनी के बराबर ही है। वह नीली रेशमी

साड़ी पहने हुए है और फूलों से अपना शृंगार किये है। ज्ञात होता है, वह वनमाला है। प्रसन्नता की रेखा ने उसके मुख को खिला दिया है। कनक और रजनी में मित्रता हो गई है। दोनों ही प्रवास में हैं और समीप रहने के कारण दोनों में परिजनों का सा स्नेह हो गया है। कभी-कभी कनक रजनी के यहाँ आकर समय बिताने के लिए बैठ जाती है। रजनी कनक के यहाँ अपेक्षाकृत कम जाती है। किन्तु जब दोनों मिलती हैं तब दोनों में प्रायः कुछ विवाद छिड़ जाता है।

आज रजनी अपने तंबू के एक बड़े कमरे में बैठी है। कमरे में सजावट है। नीचे कालीन बिछा हुआ है। बीचोंबीच एक टेबल है, जिस पर फूलदान रक्खा है। कमरे में दो तीन कुर्सियाँ पड़ी हैं। एक कोने में सफेद चादर से सजा हुआ पलँग है। पलँग के समीप अलमारी में पुस्तकें सुन्दरता के साथ सजी हैं। अलमारी पर हाथीदाँत और संगमरमर की कुछ मूर्तियाँ रक्खी हैं। अलमारी के समीप एक टेबल और कुर्सी है जिस पर बैठ कर रजनी कभी-कभी लिखती-पढ़ती है। एक कोने में सितार टँगा हुआ है। उसी के समीप एक घड़ी है जिसमें रात के नौ बजे हैं। घड़ी के पास ही रजनी के पिता का एक तैलचित्र लगा हुआ है। उसके नीचे एक अँगीठी है जिसमें अंगारे दहक रहे हैं।

पिता के चले जाने से रजनी आज कुछ मलिन है यद्यपि वह आत्म-विश्वास से अपने को सँभाले हुए है। वह इस समय एक पुस्तक पढ़ रही है। ध्यान में मग्न है। धीरे-धीरे कनक आती है। उसके हाथ में फूलों की एक डलिया है। उसने अपना सारा शरीर फूलों के आभूषणों से सजाया है। वह चुपके से रजनी के पीछे आकर उसके सिर पर फूल बरसा कर हँस पड़ती है। रजनी चौंक कर उसकी ओर देखती है।]

रजनी—ओह !...कनक...!

कनक—इस फूलों के देश काश्मीर में आकर भी पढ़ना !

र०—(अँगड़ाई लेती है) आओ, बैठो (पुस्तक बन्द करती हुई) और क्या करूँ कनक ?

क०—(बैठते हुए) काम की कुछ कमी है रजनी ? हवा के झोंकों से झूमती हुई सफेदा की टहनियों को देखा है ? खुशी से झूमते रहना उनका काम है। मानसबल की मछलियों को देखा है ? लहरों की लंबी कोरों में चितवन की तरह मचलती हैं।

र०—मैं मछली नहीं हूँ, कनक ?

क०—सो तो एक बंगाली भी कह सकता है। लेकिन मैं कहती हूँ कि वे मछलियाँ अच्छी हैं जो किताबें नहीं पढ़तीं, गम्भीरता से कुर्सी पर नहीं बैठतीं। जानती हैं कि भगवान ने जो छोटा-सा जीवन दिया है उसमें खेलना और खुश रहना—बस यही दो बातें हैं।

र०—अगर यही होता तो दुनियाँ में कुछ काम ही न हुआ होता। वह एक महफ़िल हो जाती और जो जितने ज़ोर से हँसता वह उतना ही बड़ा आदमी होता।

क०—मूर्खता से हँसना तो रोने से भी बुरा है, रजनी! उससे तो तुम्हारी गम्भीरता अच्छी। लेकिन जीवन का आनन्द लेना जीवन को पहचानना है। अच्छा यह देखो, यह फूल है। (फूल हाथ में लेती है) ज़रा इसे पैरों से कुचल दोगी ? (पैरों के पास फेंकती है।)

र०—वाह, ऐसी सुन्दर चीज़ पैरों से कुचली जा सकती है ? (फूल कनक के केशों में लगाती है ।)

क०—यही तो तुम कर रही हो रजनी ! यह जीवन फूल की तरह खिला हुआ है; इसे तुम गम्भीरता के पैरों से कुचल रही हो, धूल में मिला रही हो ।

र०—लेकिन कनक, तुम समझती हो कि इस जीवन के फूल में काँटे नहीं है ?

क०—होंगे, उन्हें निकाल कर फेंक दो । लेकिन तुमने तो जीवन के फूल को ही काँटा बना रक्खा है । गंभीर, मौन, उदास—तुम्हारी ये सूरतें तो जैसे जीवन के दिल में त्रिशूल की तरह चुभी हुई हैं । अगर ऐसी बात है तो यह सितार क्यों यहाँ रख छोड़ा है ।

र०—पिताजी मेरे लिए लाये थे । मुझे अच्छा ही नहीं लगा । मैंने सब तार इसके तोड़ डाले ।

क०—बहुत अच्छा किया । मैं भी अगर एक प्रार्थना करूँ, मानोगी ?

र०—क्या ?

क०—ये किताबें मुझे दे सकती हो ? थोड़ी देर के लिए ?

र०—क्यों ?

क०—मैं इन्हें खूबसूरती के साथ नहलाना चाहती हूँ !

र०—शः, क्या कह रही हो ?

क०—नहीं, शायद इन्होंने कभी स्नान नहीं किया । निखर उठेंगी ।

(मंगल किताबों का ढेर लेकर आता है)

मं०—सरकार, ये किताबें बाहर पड़ी थीं। इन्हें अन्दर रख दूँ ?

र०—मंगल !...अच्छा, इन्हें उस कोने में सजा दे।

(मंगल किताबें सजाकर रखने लगता है)

क०—यह किताबों का 'प्रोसैशन' कहाँ से आ रहा है ?

र०—प्रोसैशन ? (किंचित् हँसकर) कुछ नहीं। शाम को तंबू से बाहर पढ़ रही थी। वहीं ये किताबें रह गई थीं।

क०—शाम को भी पढ़ना ! तुम तो रजनी, एक काम करो। सारी किताबें को अपने कपड़ों पर छपवा लो। कहीं भी जाना हुआ, किताबों को पहने हुए जा रहे हैं ! किताबों को उठाने-रखने के कष्ट से बच जाओगी। जिस विषय को पढ़ना हुआ उसी विषय की साड़ी पहन ली।

र०—कनक, आज मैं उदास हूँ और तुम बातें घड़ती जा रही हो।

क०—तुम उदास क्यों हो ? इसीलिए ठीक बातें नहीं कर रही हो !

र०—बहुत कोशिश करती हूँ कि उस पर सोचूँ ही नहीं लेकिन...उदासी आ ही जाती है।

क०—क्यों ?

र०—आज पिताजी घर वापस चले गये।

क०—किसलिए ?

र०—मैंने उन्हें नाराज़ कर दिया।

क०—नाराज़ कर दिया ?

र०—हाँ, नाराज़ कर दिया। उनका अपमान कर दिया।

क०—अपमान कर दिया! कैसे ?

र०—मैंने अपने जाने तो नहीं किया, लेकिन उनके ख्याल से अपमान हो गया।

क०—किस बात से ?

र०—मैंने उनसे कहा था—पिताजी, दुनियाँ बहुत धोखेबाज़ है। बहुत बनी हुई है। उसमें सिर्फ स्वार्थ ही स्वार्थ है। भाई भाई में स्वार्थ है। पुरुष और...

क०—शायद तुमने यह भी कहा होगा कि पिता पुत्री में भी स्वार्थ है

र०—हाँ, यह भी कहा। वे कहने लगे—मेरा क्या स्वार्थ है ? मैंने कह दिया कि मेरे योग्य होने से आपकी चिंताएँ कम हो जायँगी और समाज में आपकी मुश्किलें आसान हो जायँगी।

क०—यह ठीक नहीं है, रजनी !

र०—ठीक क्यों नहीं ? (उठ खड़ी होती है) लड़की के खराब निकल जाने पर किस पिता ने उसका तिरस्कार नहीं किया ? पिता तो ऐसी लड़की का मुँह देखना भी पसंद नहीं करता। अगर आज मैं अपनी मर्यादा छोड़ दूँ तो पिताजी का प्रेम क्या बालू की दीवार की तरह एक मिनट में, नहीं गिर पड़ेगा ? फिर वह प्रेम कहाँ रह गया ? और सुनो कनक, यह सारी चीज़ें समाज ने मनुष्य को दी हैं—ऐसे समाज ने, जो जंजीरों से कसा हुआ है। पुरुष स्त्री पर अधिकार दिखलाता है, जैसे जीवन में अधिकार

के सिवाय कुछ है ही नहीं। जीवन तड़पता है और अधिकार उस पर हँसता है, कनक! अगर यह अधिकार न होता तो क्या स्त्री पुरुष का सत्कार न करती? पुत्र पिता का आदर न करता?

क०—ठीक है, लेकिन रजनी, तुम जैसे सभी तो नहीं हैं। कहीं पुत्र पिता को पीट देता या स्त्री पति से कहती—मेरी बिना आज्ञा आफिस मत जाओ—यूनिवर्सिटी में पढ़ाने मत जाओ।

र०—तो ऐसा क्या अब नहीं होता? लोगों को आफिस में देरी हो ही जाती है। यूनिवर्सिटी में लड़के बैठे रहते हैं और प्रोफेसर ठीक वक्त पर आ नहीं सकते।

क०—इसीलिए तो मर्यादा की सख्त जरूरत है। "अथारिटी" का काम यही है। संसार के काम को चलाने के लिए अधिकार की आवश्यकता है।

र०—लेकिन उसमें जीवन का उत्साह जो खराब हो जाता है, कनक! पुत्र बिना किसी शासन के जो प्यार करता वह तो हृदय से उमड़ता हुआ प्यार होता। स्वभावतः स्त्री जैसा प्यार करती, क्या उसी तरह का प्यार एक डरी हुई, दबी हुई, स्त्री करेगी? यह समाज का अन्याय है, कनक!

क०—इसे अन्याय नहीं कह सकती। बंधन तो इसलिए चाहिए कि उससे आदमी स्वतंत्र हो सके। अपनी बेतरतीबी से बढ़ती हुई इच्छाओं को रोक कर वह उन्नति के रास्ते पर क्या नहीं बढ़ सकेगा? तुम एक पक्षी को देखती हो? वह केवल अपने दो पंखों के बंधन में बँधा हुआ है। लेकिन उन्हीं बंधनों से

वह सारे आकाश की हज़ारों कोसों की दूरी स्वतंत्रता से पार कर जाता है। रजनी ! बंधन को उन्नति के रास्ते में रोड़ा मत समझो। बंधन को स्वतंत्रता का सहायक समझो।

र०—ये सब कवि की कल्पनाएँ हैं।

क०—तो इसीलिए तुम्हारे पिताजी नाराज़ हो गये ?

र०—नाराज़ क्या हुए, झुँझलाकर रह गये। मैंने कहा—पिताजी, मैं अकेली रहना चाहती हूँ।

क०—पिताजी ने क्या कहा ?

र०—उन्होंने कहा—बेटी, माँ तो तेरी छुटपन में ही चली गई थी। अब तू ही एकमात्र मेरा सहारा थी; सो तू ऐसी बात कहती है।

क०—उस वक्त पिताजी की आँखों में आँसू जरूर रहे होंगे ?

र०—हाँ, उनकी आँखें कुछ गीली जरूर हो गई थीं।

क०—तो तुम अकेली रहना चाहती हो ?

र०—हाँ, मैं रह के देखना चाहती हूँ।

क०—कब तक ?

र०—कनक, समाज मुझे अच्छा नहीं लगता। माँ का प्रेम मैं जानती नहीं। मुझे समझने का अवकाश पिताजी को है नहीं। मैं तो जीवन से ऊब रही हूँ। चाहती हूँ कि किसी एकान्त स्थान में सोचूँ कि मैं क्या करूँ। मुझे कुछ अच्छा नहीं लगता, कनक ! मैं ही तो पिताजी को अपने साथ यहाँ लाई थी, आब-हवा बदलने के बहाने। मैंने अपने मन में सोच लिया था कि उन्हें यहाँ से वापस कर दूँगी।

क०—तो अब यहाँ तुम्हारे साथ कौन है ?

र०—केसर और मंगल ।

क०—नौकरानी और नौकर, केवल !

र०—हाँ ।

क०—तो यहाँ अकेली रहकर क्या करोगी ?

र०—पढ़ूँगी। सोचूँगी। मुझे ऐसा मालूम होता है कनक, कि जीवन में कोई नया-पन नहीं है। पुराने ज़माने से आदमी जैसा रहता चला आया है, उसी तरह वह रहता है। उसमें सारी वस्तुएँ बासी हो गई हैं; मुझे उनसे एक तरह की दुर्गंध आ रही है। जीने के ढंग में कोई नयापन नहीं है। इसीलिए मैंने स्कूल की नौकरी छोड़ दी।

क०—स्कूल की नौकरी छोड़ दी ! अब पिताजी को भी छोड़ दिया। विवाह तो अभी हुआ नहीं अन्यथा आगे चलकर उन्हें भी.....

र०—कुछ नहीं होने का, कनक ! मैं तो देखती हूँ कि परिवार में डूबा हुआ आदमी कुछ नहीं कर सकता। जीवन की आवश्यकताओं को पूरा करता हुआ सोता है, जागता है। उसे विवाह करना पड़ता है, बच्चों का भरण-पोषण करना पड़ता है। वृद्ध होना पड़ता है और मर जाना पड़ता है। एक ही रास्ता, एक ही चाल, एक ही दूरी। मुझे इससे घृणा हो गई है, कनक ! मैं यह कुछ नहीं चाहती।

क०—तो रजनी, तुम चाहती क्या हो ?

र०—मैं क्या कहूँ कि क्या चाहती हूँ ! मैं समाज का बंधन

नहीं चाहती। मैं ममता और मोह के बंधनों को तोड़कर स्वतंत्र विचारों में विश्वास रखती हूँ। कनक, जब ऐसा होगा तो संसार कितना अच्छा होगा !

क०—बहुत अच्छा होगा। पिता पुत्री से कहेगा, घर चलो। पुत्री कहेगी—पिताजी, नमस्कार। वह पुरुष के बदले पुस्तकों से प्रेम करेगी। हँसने खेलने के बदले गम्भीर रहेगी, कहेगी—(गाल फुलाकर) मैं समाज का बंधन नहीं चाहती।

र०—मैं तुम पर दया करती हूँ, कनक तुम क्या समझो? रूढ़ियों में बँधी हुई कनक, तुम क्या समझो कि स्वतंत्र विचार क्या होते हैं। अंध-विश्वासों की जंजीरों में तुम्हारे प्राण भी कस गये हैं। बरसों की दासता में पड़ी हुई स्त्री इन बातों को देर में समझेगी, तुम अभी नहीं समझ सकतीं। जाओ, फूलों के गजरे बनाओ और दुलहिन बनो।

क०—रजनी, अब इस बकझक को छोड़ो। बोलो, तुम यहाँ कब तक रहोगी?

र०—कह तो चुकी हूँ। हमेशा।

क०—अकेले?

र०—और क्या? सोचूँगी, समझूँगी, पढ़ूँगी कि समाज को कैसे बदलना चाहिए। बी० ए० पास करने के बाद मैंने अपना सारा समय यही सोचने में लगाया है। हमारे समाज में सब से पहले पिता लड़की को कमज़ोर बना देता है। वह समझ लेता है कि लड़की का विवाह करना है। उसे वह पढ़ाता है, लिखाता है। यह सब इसलिए कि लड़की का विवाह अच्छी जगह

कर सके और फिर वह लड़की पति के घरवालों की दासी हो जाय; उन्हें खाना पकाकर खिलाये और स्वयं गाली खाये। वह सब कुछ नहीं होने का। मुझे भी पिताजी ने यह सब कुछ सिखलाने की कोशिश की, लेकिन मैं इन विचारों की क़ायल नहीं। स्वयं ऐसी बातें सोचकर निकालूँ कि मनुष्य जीवन में कभी दास न हो, किसी का दास न हो। मैं परिवार और समाज नहीं चाहती। मैं मनुष्य के लिए पूरी स्वतंत्रता चाहती हूँ। कनक, बंधन मनुष्यता का कलंक है।

क०—इतनी सब बातों में तुम्हें पिताजी की याद नहीं आयेगी?

र०—आयेगी क्यों नहीं, लेकिन मुझे उस याद को भूल जाना होगा। मैं अपनी कमजोरी पर विजय पाना चाहती हूँ, कनक! आज उदास थी, क्योंकि पिताजी आज ही गये हैं, लेकिन दस-पंद्रह दिन बाद यह रजनी दूसरी ही रजनी होगी।

क०—तब तो तुम मुझे भी भूल जाओगी।

र०—तुम्हें कैसे भूल सकती हूँ?

क०—जैसे पिताजी को भूलने की कोशिश करती हो।

र०—(कुछ अप्रतिभ होकर) लेकिन भूलने का अर्थ यह नहीं है कि मैं तुम्हारी याद भी न करूँ। हाँ, तुम्हारी याद से रोने के बदले मैं हँसना चाहती हूँ।

क०—अच्छा तो सुनो, हम लोग भी कल जा रहे हैं।

र०—अरे, कल ही?

क०—हाँ, माताजी से पूछ कर तुम से मिलने आई थी।

तुम्हारी बातों में उलझ गई। मैंने सोचा कि ऐसी बातें अब कब सुनने को मिलेंगी। सुनती रही; अब देर हो रही है।

र०—अरे, तुम भी जा रहो हो!

क०—हाँ, भाई का एग्जामीनेशन पास आ गया है। उन्हें तकलीफ़ होती होगी खाने पीने की। उन्होंने अपनी ज़िद में अभी तक शादी भी नहीं की। नहीं तो ऐसी तकलीफ़ उन्हें होती ही क्यों? कुछ लड़के कैसे आँख मूँद कर शादी करा लेते हैं—मेरे भाई साहब...

र०—शादी नहीं की तो क्या बुरा किया?

क०—उनके विचार कुछ-कुछ तुम्हारे विचारों से मिलते हैं। कहते हैं, मैं विवाह करूँगा ही नहीं और करूँगा तो पहले लड़की को खूब समझ लूँगा। मैंने कहा—ऐसा करोगे साहब, तो लड़की तुम्हें पहले समझेगी। (दोनों हँस पड़ती हैं)

र०—कनक, तुम अभी नहीं जा सकतीं।

क०—लेकिन रजनी, हम लोगों को जाना ही होगा। भाई कहते हैं कि खाना अच्छा और वक्त पर न मिलने से पढ़ाई हो ही नहीं सकती। हम लोगों को तो और जल्दी घर लौट जाना चाहिए था।

र०—(सोचती है) खाने पीने की तकलीफ़! तभी तो मैं कहती हूँ...सारा जीवन परिवार की चिंता में...फिर जीवन में काम क्या करोगी? परिवार की चिंता, परिवार की दासता।

क०—यह दासता नहीं है रजनी! माता पुत्र को, बहन भाई

को, स्त्री पति को खिलाने में दासी नहीं हो जाती। यह तो ईश्वर की दी हुई समता है। यह तो ईश्वर का वरदान है।

र०—(सोचती हुई) पुत्र...भाई...पति (सोचती है)।

(बाहर से आवाज़ आती है, रजनी और कनक सुनती है)

कनक...ओ कनक...अरे सुनो, ऐ आदमी...रजनीदेवी का रेंट यही है ?

मंगल की आवाज़—जी हाँ, सरकार।

बाहर की आवाज़—तो कनक है अंदर ?

मंगल की आवाज़—जी हाँ, सरकार।

बाहर की आवाज़—कहो कि आनन्द बुलाने आये हैं।

क०—(उद्विग्नता से) मेरे भाई की आवाज़ !

र०—तुम्हारे भाई की आवाज़ ! तुम्हारे भाई यहाँ कैसे ?

क०—वे ही तो हम लोगों को लेने आये हैं। चाचाजी यहाँ से सीधे जा रहे हैं नैनीताल। उन्होंने भाई साहब को लिखा कि तुम आकर सब को ले जाओ; वही आये हैं।

(मंगल का प्रवेश)

म०—आनन्द बाबू आये हुए हैं।

क०—बुला लूँ भीतर ?

र०—(अव्यवस्थित होकर) हाँ, हाँ बुला लो।

क०—उन्हें भेज दो भीतर। (मंगल जाता है) भाई साहब बहुत अच्छे हैं। शिकार खेलने का शौक है। कहते हैं—पढ़ना और शिकार खेलना यही उनके जीवन के दो पहिये हैं।

(आनंदकिशोर का प्रवेश। २४ वर्ष का नवयुवक है, सुन्दर और

सुडौल। मर्सराइज़्ड सिल्क का निकर और नीली सर्ज का गर्म कोट पहने हुए है। सिर पर एक स्कार्फ। हाथ में ग्लव्स और पैरों में पेशावरी स्लीपर। चलने में निश्चयात्मकता। बोलने में मधुर और दृढ़ शिष्टाचार के नियमों में सधा हुआ। व्यवहार में रुचि और उत्साह। आत्मविश्वास में पूर्ण और प्रसन्न तथा हँसमुख। बोलने में तत्पर और स्पष्ट। उसके हाथ में बन्दूक और कन्धे से कमर तक लटकती हुई कार्ट्रिजेज़ का बेल्ट है।)

आ०—मैं अन्दर आ सकता हूँ ?

क०—आइए भाई साहब।

(आनन्द आगे बढ़ जाता है। कनक परिचय कराती है।)

क०—मेरे भाई श्री आनन्दकिशोर जी, अंग्रेज़ी एम० ए० के विद्यार्थी और कुमारी रजनी देवी बी ए०।

(दोनों परस्पर नमस्कार करते हैं)

आ०—आपके दर्शन कर प्रसन्नता हुई।

र०—मुझे भी।

आ०—धन्यवाद।

र०—बैठिए ! कुर्सी लीजिए। ओह, मैं मंगल को पुकारती हूँ।

आ०—नहीं, मंगल की क्या जरूरत, यह तो मैं ही कर सकता हूँ। (कोने से कुर्सी उठाकर सामने रखता है) आप बेंत वाली कुर्सी पर बैठ जायँ।

र०—नहीं, मैं ठीक हूँ।

आ०—नहीं, आप भी बैठें। हम लोग तो जंगली जानवरों की तरह घूमने फिरने वाले हैं। हमारा क्या। (रजनी के लिए बेंत की बड़ी कुर्सी रख रजनी की कुर्सी अपने लिए रखता है)

र०—आपके लिए जलपान मँगवाऊँ?

आ०—नहीं, धन्यवाद। मुझे अभी कुछ नहीं चाहिए।

क०—भाई साहब का जलपान किसी दूसरी चीज से होता है। क्यों भाई साहब, आज कितनों का उद्धार किया?

आ०—कनक, आज कुछ भी हाथ नहीं आया। आठ मील घूमने पर भी बंदूक कंधे से न उतर सकी। मालूम नहीं, परिंदों ने भी संघियों की तरह संगठन कर लिया था। कोई मिला ही नहीं। रजनी देवी, माफ कीजिए, मैं शिकार से लौटा ही था कि मालूम हुआ कनक यहाँ है। मुझे सीधे यहीं चले आना पड़ा। मैं कपड़े भी नहीं बदल सका।

र०—तो हानि क्या है? शिकारी की पोशाक बुरी नहीं होती।

आ०—धन्यवाद।

क०—लेकिन एक बात तो मैं कहूँगी, भाई साहब। यहाँ साहित्य और समाज की बातें होती हैं। यहाँ शिकारी की पोशाक में आना मना है। यह सरस्वती-मन्दिर है।

आ०—(फर्श पर पड़े हुए फूलों को देखते हुए) ये बिखरे हुए फूल इस बात का समर्थन करते हैं। लेकिन मेरी बेबसी देखते हुए रजनी देवी जी क्षमा करेंगी।

र०—इसमें क्षमा की कौन सी बात है? यह तो सब कनक की शैतानी है। मुझे यों ही बनाती है।

आ०—नहीं, रजनी देवी जी, आज सुबह कनक आपकी बहुत तारीफ कर रही थी। कहती थी कि आपने समाज और

साहित्य पर इतना विचार किया है कि आप आसानी से कुछ पुस्तकें लिख कर समाज को ठीक रास्ते पर ला सकती हैं। वह कहती है कि यों मैं उनसे चाहे हँसी कर लूँ लेकिन दिल से तो तारीफ़ ही करती हूँ।

र०—कनक मेरे जीवन के बिलकुल पास आ गई है। मुझ पर उसका प्रेम होना स्वाभाविक है।

आ०—अच्छा, और सुनिए! आपके विचार जानकर मुझे बहुत खुशी हुई। मैं भी बहुत कुछ इन्हीं विचारों का माननेवाला हूँ। समाज ने लोगों को अंधा कर दिया है। पुरानी परम्पराओं के सामने मनुष्य की सच्ची भावनाएँ उभरती ही नहीं हैं। वह आँख बन्द कर पुराने रास्ते पर चल रहा है।

क०—आप दोनों महामहोपाध्याय हैं। मेरी समझ में तो आप लोगों की बातें आती ही नहीं हैं।

आ०—अभी तुम बच्ची हो। इन बातों को क्या समझो? रजनी देवी की भाँति सोचो, समझो, तो कुछ समझ में आये।

क०—मेरे मन में तो सुख-दुःख की जो बातें आप से आप आ जाती हैं, वे ही अच्छी लगती हैं।

आ०—ठीक है, लेकिन दुनियाँ अब बहुत आगे बढ़ चुकी है, कनक! मैंने तुम्हें इतनी बार समझाया कि तुम वेल्स पढ़ लो तो तुम ठीक तरह से सोचने लगो; लेकिन तुम्हें पढ़ने की फ़ुरसत ही नहीं। हाँ, मैं एक बात जरूर कहूँगा, रजनीदेवी! मेरी कनक को अपनी जिम्मेदारी की सारी बातों पर पूरा अधिकार है और फिर इसके साथ बैठकर कोई उदास रह ही नहीं सकता। इतनी

हँसी की बातें करती है कि मालूम होता है—आपके पास एक निर्मल नदी बह रही है...

क०—जिसमें भाई साहब डूबकर भी बच जाते हैं। (स्वर बदल कर) भाई साहब, ये बातें रहने दीजिए। आप किस लिए मेरी खोज में आये थे?

आ०—ओह! मैं भूल ही गया, कनक! तुम्हें माताजी याद कर रही थीं।

क०—तब तो मुझे जाना चाहिए। रजनी, अब मैं जाऊँगी।

र०—कुछ देर और ठहरो न।

क०—जाने किस काम के लिए माताजी बुला रही हैं।

र०—जाओगी?

क०—हाँ, और सुनो, अब शायद हम लोग न मिल सकें। हम लोग सुबह पाँच बजे ही यहाँ से जा रहे हैं। तुमसे शायद मिलना न हो सके! यह लो मेरी भेंट। (माला पहनाती है)

र०—तुम्हारी याद मुझे भूल नहीं सकती, कनक! तुम मुझे याद रक्खोगी?

क०—तुम्हें कैसे भूल सकती हूँ, रजनी! तुम्हें भूलना अपने आपको भूलना है।

आ०—अच्छा, तो मैं भी चलूं। (उठ खड़ा होता है)

र०—आप बैठिए ना, आपको कौन सी जल्दी है? आपकी बातें मुझे बहुत अच्छी लग रही हैं। आप थक भी गये होंगे!

आ०—धन्यवाद। अच्छा कनक, मैं थोड़ी देर बाद आता हूँ। (रजनी से) आपका नौकर है?

र०—हाँ, हाँ, मैं उसे कनक के साथ भेज देती हूँ। (पुकार कर) मंगल !

मं०—जी, सरकार !

र०—ज़रा कनक जी के साथ जाओ। इन्हें इनके डेरे तक पहुँचा दो।

मं०—बहुत अच्छा !

क०—रजनी ! मेरी गलतियाँ भूल जाना और..(कुछ कह नहीं सकती)

र०—अरे कनक, तुम मेरी प्यारी बहन हो। तुम कैसी बातें करती हो !

(कनक मौन नमस्कार करके जाती है। रजनी उसे दरवाज़े तक जाकर देखती है।)

र०—(लौटते हुए) कनक बहुत अच्छी है। मैं उसके प्रेम में अपने आपको भूल गई थी। मैंने समझा था कि संसार में मेरी एक बहन भी है।

आ०—यह आपकी उदारता है। नहीं तो इस दुनियाँ में कौन किसे मानता है ! सब अपने मतलब से प्रेम करते हैं।

र०—आप कितनी सच्ची बात कहते हैं ! मैं भी यही सोचती हूँ। लेकिन कनक को प्यार करने में मेरी उदारता नहीं, यह तो कनक का अधिकार है।

आ०—(बैठते हुए) आप इसके बाद मिलती तो रहेंगी कनक से ?

र०—मैं कह नहीं सकती।

आ०—क्यों ?

र०—मैंने अपने जीवन का रास्ता ही बदल लिया है।

आ०—ओह, रास्ता बदल लिया है ? मैं जान सकता हूँ ?

र०—आप मेरे विचारों से बहुत कुछ सहमत हैं इसलिए मैं आपके सामने अपने हृदय की बात रख सकती हूँ।

आ०—हाँ, हाँ, जरूर।

र०—आप जानते हैं, मैंने आपको रोकने का साहस क्यों किया। मैं इस समय बिलकुल अकेली हूँ, किन्तु मैं आपसे मिल रही हूँ। शायद समाज की कोई दूसरी लड़की इन परिस्थितियों में आपसे न मिलती।

आ०—मैं आपसे सहमत हूँ।

र०—मैंने सब परिस्थितियों का बंधन तोड़ दिया है। मैं बिलकुल अकेली हूँ।

आ०—आपके परिवार के लोग ?

र०—मेरे परिवार में है ही कौन ? माँ बचपन में ही चल बसी थीं। भाई-बहन कोई है ही नहीं। पिताजी हैं, वे भी आज जालंधर चले गये।

आ०—हाँ. कनक कह रही थी कि आप पिताजी के साथ हैं। फिर पिताजी आपको छोड़कर क्यों चले गये ?

र०—वे जा तो नहीं रहे थे, लेकिन मैंने ही उन्हें चले जाने को कहा। मैं उनका आदर करती हूँ पर उनके विचारों से सहमत नहीं हूँ।

आ०—क्या मैं पूछ सकता हूँ कि उनके विचार कैसे हैं ?

र०—वह मुझे समाज के बंधन में बाँधना चाहते थे। मैंने इससे इनकार कर दिया। मुझे समाज का बंधन पसंद नहीं है आनन्दजी ! हमारा समाज बहुत गिरा हुआ है। मैं उस समाज से दूर रहना चाहती हूँ।

आ०—इसमें शक नहीं कि समाज के बहुत से बंधन बुरे हैं जो मनुष्य को आगे बढ़ने से रोकते हैं।

र०—और मैं समझती हूँ कि इन बंधनों ने ही हमारे समाज को खराब कर रक्खा है।

आ०—रजनी देवी, आपके इन विचारों को सुनकर तो मुझे ज्ञात होता है कि आपने हमारे समाज की दशा को ठीक पहचाना है। और आप ही आगे बढ़ेंगी समाज को उठाने के लिए। मैं आपसे बिलकुल सहमत हूँ।

र०—और मैं कहती हूँ आनंदजी, कि हमारे समाज का गिरना उतना बुरा नहीं है जितना कि गिरकर उसका न उठना है। मनुष्य अभी तक का सोचा हुआ रास्ता क्यों नहीं बदल देता ? वह समाज की चिंता क्यों करता है ? हवा का भी कोई समाज है ? सूर्य की किरणें भी किसी बंधन में हैं ? आग भी रस्सी से कसी हुई है ?

आ०—रजनी देवी, यह बात तो सही है; लेकिन आप यदि क्षमा करें तो मैं एक बात कहूँ कि आप सब कुछ कर सकती हैं लेकिन समाज को छोड़ना एक बड़ी भूल होगी। आप सब कुछ करें लेकिन समाज को न छोड़ें।

र०—जब आप मनुष्य के स्वतंत्र होने पर मुझसे सहमत हैं तो समाज तो उस स्वतंत्रता का बंधन है।

आ०—सही है, लेकिन मनुष्य समाज का एक प्राणी है। वह राबिन्सन क्रूसो बनकर बहुत दिनों तक नहीं रह सकता। उसे समाज के बीच रहना ज़रूरी हो जाता है। जब वह सभ्यता की चोटी पर चढ़ने की कोशिश कर रहा है तो वह अकेला कैसे रह सकता है? उसे अपनी बुराइयों से लड़ना है और अपनी कमज़ोरियों को दूर फेंकना है। क्या आप यह नहीं मानतीं कि आप इस कशमकश से भाग नहीं सकतीं? इस विज्ञान की उन्नति के काल में जब संसार का एक भाग दूसरे भाग से बिजली के हलके करेंट से भी जुड़ गया है तब आप इस बढ़ते हुए परिवार से भाग कर कहीं नहीं जा सकतीं। और अगर आप एक मिनट के लिए चुपचाप बैठीं कि समाज अपने शरीर से आपको नाखून की तरह काट कर फेंक देगा। समाज की हानि नहीं होगी, आप कहीं की नहीं रहेंगी

र०—और अगर समाज गलत रास्ते पर हो तो?

आ०—गलत रास्ते पर होते हुए भी समाज की शक्ति कम नहीं है। आप में शक्ति हो तो समाज से लड़ जाइए। एक नया 'सोशल आर्डर' सामने रखिए। लेकिन समाज से मुँह मोड़ कर एकांत में चले जाना तो अपनी हार स्वीकार करना है। यह तो एक 'एस्केप' है। आप भाग कर छिपना चाहती हैं जिससे समाज की शक्ति का सामना आपको न करना पड़े। मैं तो समझता हूँ आपको पूरी ताकत से इसका सामना करना चाहिए। मेरे सामने भी वही सवाल है। मैं समाज को एक बिगड़ा हुआ जानवर समझता हूँ। अगर मैं इसे पुचकार कर अपने वश में

नहीं कर सकूँगा तो इसे ऐसी गोली मार दूँगा कि वह कष्ट से कराहने लगे। मैं इससे अगर दूर भागूँगा तो यह मुझे डरा हुआ मान कर लपक कर मेरा पीछा करेगा और मुझे बुरी तरह काट लेगा। आप देखती हैं ये निशान ? (कलाई दिखाते हुए) ये एक भालू के पंजे हैं। शिकार करते समय मेरा पैर एक गढ़े में चला गया और मैं पीछे गिरा तो भालू ने समझा कि मैं भाग रहा हूँ। उसने मुझ पर हमला कर ही दिया। लेकिन दूसरे ही क्षण मैंने अपने सधे हुए निशाने से उसे समाप्त कर दिया।

र०—आप बहुत बहादुर हैं !

आ०—धन्यवाद, लेकिन आप सोच लीजिए कि यह समाज आपके यहाँ चले आने पर आप पर हमला करेगा। आपके सामने न जाने कितनी समस्याएँ खड़ी करेगा। संभव है आप पर कलंक भी लगा दे।

र०—मैं इसकी चिंता नहीं करती !

आ०—आपके चिंता न करने से वह चुप तो रहेगा नहीं। समझेगा, वह जो कुछ कह रहा है, सब सही है। तभी तो आप चुप हैं। आप इसे एक तमाचा नहीं मार सकतीं ? जो आदमी समाज को तमाचा मार सकता है, समाज उसके सामने कुत्ते की तरह दुम हिलाने लगता है। ऐसा है यह जानवर !

र०—लेकिन यह जानवर रोगी है, इसमें कीड़े पड़ रहे हैं। इसका अंग-अंग सड़ रहा है। आप जानते हैं, सड़ी हुई चीज को पास रखने से बीमारी फैलती है। मैं ऐसे सड़े हुए समाज को क्यों अपने पास जगह दूँ ? इसमें देश के नौजवान लड़कों को

आगे बढ़ाने की शक्ति नहीं है। इसमें किसानों की हालत सुधारने की बुद्धि नहीं है। इसमें लड़कियों का विवाह करने की पसंदगी नहीं है। सब कुछ ऐसा हो रहा है जैसे भट्टी की चिमनी से घुट-घुट कर धुआँ निकल रहा हो—जिससे देखनेवालों की आँखें भी अंधी हो रही हैं।

आ०—तो इस भट्टी में दस मन कोयला झोंक दीजिए जिसमें आग की लपट निकल पड़े और भट्टी की सारी अधजली चीजें एक बार ही जल जायँ। चुप बैठने से तो धुआँ कलेजे तक भर जायगा और आप साँस भी न ले सकेंगी।

र०—आपकी बात बहुत हद तक ठीक है, आनन्द जी! लेकिन एक बात है। यह समाज किसी भी नये विचार को अपने भाले की नोक जैसी उँगली उठा कर उसी समय नष्ट कर देता है क्योंकि यह अपनी ही तरफ देखता है। अपने से बाहर देखने के लिए इसके पास आँखें ही नहीं हैं। फिर यह बूढ़ा समाज अब भी कितना स्वार्थी है! इसकी रुपयों-पैसों वाली नीति मुझे पसंद नहीं। इस जीवन से ऊपर उठ कर इसका आदर्श ही नहीं है। मामूली सुखों में वह हँसता है और थोड़े से दुःख से ही रोने लगता है।

आ०—यदि सच पूछा जाय तो जीवन का आनन्द संसार से लड़ने-भिड़ने में ही है, जिसमें कभी हँसना पड़ता है, कभी रोना पड़ता है। सुख-दुःख तो उसे नहीं होते जो मुर्दा है। पड़ा है जमीन पर। कोई उस पर रो ले या हँस ले। कोई उसे फूलों की सेज पर सुला दे, या काँटों पर डाल दे। उसमें जीवन नहीं है, तभी तो ऐसा है।

र०—आनन्द जो ! मैं मनुष्य के हृदय को सुख-दुःख से ऊँचा रखना चाहती हूँ। लहर की तरह बह जाना मनुष्य को शोभा नहीं देता। उसे होना चाहिए चट्टान की तरह दृढ़ और अटल। मैं चाहती हूँ कि मनुष्य स्वतन्त्र हो ! वह अपनी इच्छा में किसी का दास न हो। अगर वह दास हो तो उसमें और पालतू जानवरों में अन्तर ही क्या रहा ?

आ०—रजनी देवी, मैं मानता हूँ कि मनुष्य स्वतन्त्र हो, लेकिन यदि वह अपने सिद्धान्तों का पक्का है तो वह समाज को तोड़-फोड़ कर फिर से बनाये, नये सिद्धांत रचे, नये विचार सोचे। ईश्वर देखे कि उसने मनुष्य को दुनियाँ में कीड़े की तरह नहीं भेजा। भेजा है एक घड़ने वाले के रूप में। मनुष्य स्वयं ईश्वर बने, रजनी देवो। वह अपनी ज़िम्मेदारी समझे।

र०–यहाँ हम दोनों सहमत हैं, आनन्दजो। अन्तर केवल इसी बात में है कि आप इन विचारों को रखते हुए समाज चाहते हैं और मैं एकांत चाहती हूँ। समाज दुर्बल है, बच्चे की तरह। उससे शासित होना मुझे अच्छा नहीं लगता। और फिर सच पूछिए तो पश्चिम की सभ्यता मुझे पसंद ही नहीं है। यह सभ्यता भारतीय नहीं हो सकती। जिस तरह गुलाब का फूल कमल नहीं हो सकता और कमल का फूल गुलाब नहीं हो सकता उसी तरह यह पश्चिमी सभ्यता भी भारतीय नहीं हो सकती। इससे हमारे शरीर का सुख भले ही मिले पर आत्मा को सुख कभी नहीं मिल सकता।

आ०—रजनी देवी, आप विदुषी हैं, आपने बहुत ऊँची बात कही है। मैं तो अब आपका आदर और भी अधिक करता हूँ, आपके इन विचारों के लिए।

र०—धन्यवाद! इसीलिए मैं इस सड़ते हुए समाज से हटकर यहाँ चली आई हूँ। अब जीवन के दिन यहीं बिता देना चाहती हूँ।

आ०—लेकिन रजनी देवी, मैं आपसे प्रार्थना करूँगा कि आप समाज को चलकर बतलाएँ कि आपने इस सभ्यता में बढ़कर भी इसके दोषों को कितनी अच्छी तरह से पहचाना है। आपकी आवश्यकता हमारे समाज को है। संसार के इतिहास को देखिए, जिन-जिन विचारकों ने सत्य खोज कर निकाले हैं उन्होंने समाज में आकर उसका प्रचार किया है। गौतम बुद्ध, ईसा को देखिए, वे एकांत-सेवी होकर नहीं रहे।

र०—ओह, आप कितने बड़े-बड़े महात्माओं के नाम ले रहे हैं। मेरे विचारों के सिलसिले में इनके नाम जोड़कर इन्हें अपवित्र न कीजिए, आनंदजी!

आ०—आपके विचारों की पवित्रता में किसे विश्वास नहीं होगा? यह तो विचारों का संसार है। यहाँ विचार से ही आदमी छोटे और बड़े होते हैं।

र०—लेकिन मेरे विचार में अभी शक्ति कहाँ आई है?

आ०—यह शक्ति समाज के भीतर जाकर ही आयेगी। समाज की समस्याएँ समाज में रह कर ही हल की जा सकती हैं; समाज से बाहर रह कर नहीं।

र०—लेकिन साधना के लिए एकांत की आवश्यकता है, आनंदजी।

आ०—आप भी ठीक कहती हैं, रजनी देवी! जैसी आप की इच्छा, लेकिन आप मेरे दृष्टिकोण पर भी विचार करें।

र०—नहीं, आप भी ठीक कहते हैं, आनंदजी। आप जैसा विद्वान मुझे अभी तक नहीं मिला। कितना अच्छा होता यदि हम लोग अधिक मिल सकते।

आ०—रजनी देवी, आप मुझे इतना आदर दे रही हैं; इसके लिए धन्यवाद, लेकिन हम लोग कल ही जा रहे हैं।

र०—ओह, यदि मुझे ज्ञात होता कि आप इतने ऊँचे विचार के हैं तो मैं कनक से कहकर उसे और आप लोगों को कुछ दिन और रोकती। सच! आपसे मिलकर प्रसन्नता हो रही है।

आ०—मुझे भी आज बहुत आनंद हो रहा है। आपने मेरे नाम को सार्थक कर दिया। मैं अभी तक बहुत-सी पढ़ी-लिखी लड़कियों से मिला, पर आपके समान बुद्धि मैंने किसी में भी नहीं पाई। आपसे मिलकर मैं समझ रहा हूँ कि मेरा यहाँ आना सफल हुआ।

र०—आप मुझे लज्जित कर रहे हैं। आपके बहुत से विचार मेरे मस्तक में घूम रहे हैं और मैं प्रभावित भी बहुत हुई हूँ। आप पत्रों से तो मुझे अपने विचार लिखते रहेंगे? मेरा पता...

आ०—मुझे मालूम है। अच्छा, आज्ञा दीजिए।

र०—आपको बहुत देर हो गई। मुझे इसके लिए क्षमा कीजिए।

आ०—मुझे क्षमा कीजिए कि आपको अपने कामों से इतनी देर तक रोके रक्खा !

र०—आपको मिलने से बढ़कर और कौन काम होता ?

आ०—(उठता है और कोने से अपनी बंदूक उठाता है) आज यह यों ही रही बोझ बन कर...

र०—हिन्दू स्त्री की तरह ?

(दोनों हँस पड़ते हैं)

आ०—कनक झूठ कहती थी कि आपको हँसी नहीं आती।

र०—कनक बेचारी बहुत अच्छी लड़की है।

आ०—यह आप जानें। अच्छा, नमस्कार।

र०—(रजनी नमस्कार के लिए हाथ उठाती है; रोककर) सुनिए आप एक बात याद रक्खेंगे ?

आ०—क्या ?

र०—कनक से मेरा बहुत बहुत प्यार कहें।

आ०—(हँसकर) ज़रूर। (नमस्कार करके जाता है, रजनी कुछ देर तक मौन खड़ी सोचती है। फिर उस दिशा की ओर देखती है जिधर आनन्द गया है। एक क्षण बाद पुकार कर) मंगल।

मं०—जी, सरकार। (मंगल आता है)

र०—आनन्द बाबू जो अभी यहाँ आये थे, गये ?

मं०—जी हाँ, वह जा रहे हैं। (नेपथ्य में संकेत)

र०—देखो, उन्हें जरा बुलाना।

(जाता है)

मं०—बहुत अच्छा।

र०—(सोचती हुई) आनन्द जी (फिर कोने के टेबुल की

ओर जाती है और कुछ कागज़ ढूँढने लगती है। कुछ कागज़ लेकर आती ही है कि आनन्द का प्रवेश।)

आ०—आपने मुझे बुलाया था ?

र०—क्षमा कीजिये! मैं चाहती थी कि आप मेरे लिखे हुए कुछ विचार अपने साथ ले जायँ और इन पर अपनी राय लिख कर भेजने की कृपा करें।

आ०—ज़रूर। आपने मुझे इस योग्य समझा इसके लिए कृतज्ञ हूँ।

र०—नहीं, आप सब तरह से योग्य हैं। (कागज़ के पृष्ठ देती है)

आ०—अब जाऊँ ? नमस्कार।

र०—(कुछ लज्जा से) नमस्कार! देखिए रात बहुत अंधेरी है

आ०—शिकारी अँधेरे से नहीं डरता। (आनन्द का प्रस्थान)

र०—कनक और आनन्द...कनक और आनन्द...कितने अच्छे! कितने अच्छे! (कमरे में चारों ओर देखती है। सितार पर दृष्टि पड़ती है। उतारती है। उसके टूटे तारों को फिर से खींचकर खूँटियों से बाँधती है। ठीक होने पर एक तार बजा देती है। फिर सितार को उठाकर जहाँ बंदूक रक्खी थी रख देती है। उसे देखती है। फिर नौकरानी को पुकारती है।) केसर!

के०—(भीतर से) आई बीबी जी! (केसर आती है)

र०—केसर! कनक भी गई और उसके भाई आनन्द भी।

के०—हाँ बीबी जी, सुबह से ही उनके चलने की बात थी।

र०—केसर, कनक बहुत अच्छी है ना !

के०—हाँ बीबी जी।

र०—इन पंद्रह-बीस दिनों में वह बिलकुल ही हिलमिल गई थी। वह तो हम लोगों के आने से पहले ही यहाँ थी।

के०—हाँ, बीबी जी।

र०—केसर ! कनक के भाई को पढ़ना है न ? उन्हें परीक्षा में बैठना है।

के०—परीक्षा क्या बीबी जी ?

र०—परीक्षा—ऐं...एग्जामिनेशन...।

के०—क्या बीबी जी ?

र०—कुछ नहीं। अब हम लोग यहाँ अकेले रह गये, सबसे अलग।

के०—हाँ, बीबी जी !

र०—तुझे डर तो नहीं लगता ?

के०—नहीं, बीबी जी।

र०—हाँ डरने की क्या बात है ? हम लोगों को अकेले रहने की आदत डालनी चाहिए। मंगल कहाँ है ?

के०—बाहर है, बीबी जी...बुलाऊँ ?

र०—हाँ, बुलाओ। (केसर जाती है)

र०—(फूलों की माला जो टेबुल पर पड़ी है उसे हाथ में लेते हुए) कनक, पिताजी...आ—नं (द पूरा नहीं कह पाती कि केसर का मंगल के साथ प्रवेश)

र०—मंगल !

मं०—जी, सरकार।

र०—मंगल! बाबूजी जाते वक्त कुछ कह गये हैं?

मं०—हाँ, सरकार। कह रहे थे जी कि जैसे ही तबियत उठे, हमें खबर देना और बीबोजी का ध्यान रखना। कोई तकलीफ न होने पावे।

र०—अच्छा!

मं०—और जी अपने साथ आपकी तस्वीर भी ले गये हैं। और जाते-जाते उनकी आँखों में आँसू भी थे जी।

र०—(सोचते हुए) पिताजी मेरा फोटो ले गये हैं।...पिता जी...(रुककर) मंगल!

मं०—जी, सरकार।

र०—तुझे डर तो नहीं लगता?

मं०—नहीं, सरकार। काहे का डर जी? कौन बात का डर?

र०—हाँ वही तो मैं कहती हूँ। कितना बजा होगा?

मं०—दस बजते होंगे जी।

र०—अच्छा, तुम अब जाओ। खबरदारी से सोना।

मं०—जी, सरकार। (जाता है)

र०—केसर, तुम अंदर के कमरे में सोना खबरदारी से। समझी, मैं यहाँ सोऊँगी।

के०—दूध और फल नहीं खायँगी, बीबी जी?

र०—नहीं केसर, मुझे कुछ नहीं चाहिए।

के०—कुछ तो खा लीजिए, बीबी जी।

र०—मैं कह चुकी केसर, मैं कुछ नहीं खाऊँगी।

के०—जी, बीबी जी।

र०—जाओ तुम।

के०—अच्छा, बीबी जी। (जाती है)

र०—(गहरी साँस लेकर) जीवन का पहला अनुभव। अकेली, सब से अलग। मैंने कहा...साधन के लिए एकांत की आवश्यकता है....आनन्द बाबू ने कहा—समाज एक बिगड़ा हुआ जानवर है!—अगर मैं इस जानवर को पुचकार कर वश में न कर सकूँगा तो ऐसी गोली मार दूँगा कि वह तकलीफ़ से कराहने लगे। कितनी शक्ति...कितनी आत्मदृढ़ता।...मैं समाज में चली जाऊँ..? जाऊँ..? नहीं, नहीं, मैं यहीं रहूँगी...यहीं रहूँगी। (सोचते हुए पिताजी के तैल-चित्र के पास जाकर) पिताजी, मैं यहीं रहूँगी। मैं दुनियाँ को दिखलाना चाहती हूँ कि सुख कहाँ और किसमें है। लेकिन आपकी आँखों में आँसू...पिताजी! (भावावेग से हट जाती और अँगीठी के पास जाती है। बैठकर सोचते हुए) आ... नं...द...ओह! कैसा जी हो रहा है! (सोचती है। पुस्तक पढ़ने की कोशिश करती है। व्यर्थ। पुकार कर) केसर!

के०—(भीतर से) जी, बीबी जी। (आती है)

के०—आप सोई नहीं बीबी जी?

र०—नींद नहीं आ रही, केसर। तू कुछ बातें कर सकती है?

के०—जी, बीबी जी, पर सो जाइए। रात बहुत हो रही है, नहीं तो तबियत खराब हो जायगी।

र०—नहीं केसर, कुछ तबियत खराब नहीं होती! (रुककर) रात बहुत अँधेरी है।

के०—जी बीबी जी।

र०—इस रात में भी लोग आते जाते हैं।

के०—सब सो रहे हैं, बीबी जी। आप सो जाइए।

र०—अच्छा केसर, तू जा। मैं भी सोने की कोशिश करती हूँ।

(केसर जाती है—कुछ क्षण तक रजनी अँगीठी के पास बैठी रहती है। फिर धीरे-धीरे उठकर लैंप की बत्ती मंद करती है। लेट जाती है। एक क्षण बाद पुकार उठती है—केसर)

के०—जी, बीबी जी (आलस्य-भरा स्वर)।

र०—पीछे का परदा ठीक तरह से बाँध दिया है ?

के०—जी, बीबी जी (मंद स्वर)।

र०—तू सो जा !...

[रात का सन्नाटा। हवा जोर से बहती है। एक मिनट तक शांति रहती है। फिर रात के अन्धकार में से एक चीत्कार आती है। "दौड़ो दौड़ो, बचाओ"। रजनी चौंक कर उठती है। तेज़ी से लैंप की बत्ती तेज़ करती है। और पुकारती है—मंगल...मंगल]

(केसर और मंगल का घबड़ाये हुए प्रवेश)

र०—यह कैसी आवाज़ है ?

मं०—कोई आवाज़ तो नहीं जी !

के०—बीबी जी, आप सोते में तो नहीं चौंक पड़ी ? यहाँ कोई आवाज़ नहीं है।

र०—(अपने ऊपर हँस कर) मैं चौंक उठी ? अच्छा, तुम लोग जाओ, मेरा मन न जाने कैसा हो रहा है ! (दोनों जाते हैं)

(रजनी लैंप की बत्ती कम करने के लिए जाती है परन्तु बिना किये ही लौट आती है। एक क्षण बाद फिर आवाज़ बिलकुल पास आ जाती है) "दौड़ो दौड़ो, बचाओ।" (भाग दौड़ की आवाज़। फिर चीत्कार—"ओह मेरी शशि...मेरी शशि !" रजनी फिर चौंक उठती है। घबराहट से पुकारती है) मंगल...मंगल।

(मंगल और केसर दोनों का फिर प्रवेश)

मं०—सरकार कोई रो रहा है। आप सच कहती थीं जी।

के०—बीबीजी, किसी ने बेचारे गरीब को मार डाला।

र०—यहीं पास ही है ! कौन है...ओह...अब क्या होगा ? मंगल, देखो, कौन है, उसे बचाओ।

(फिर वही आवाज़ 'मेरी शशि...मेरी शशि')

र०—मंगल, यहीं अपने डेरे के पास है, देखो कौन है। बत्ती ले जाओ (संदूक से रिवाल्वर निकालती है) मेरे पास रिवाल्वर है। तुम बाहर जाओ...

मं०—जी, सरकार ! (जाता है)

र०—केसर !

के०—बीबी जी !

र०—यह क्या हो रहा है ! बाबू जी के जाने के बाद ही यह सब क्या हो रहा है ?

(रिवाल्वर हाथ में लिये बाहर दरवाज़े तक जाती है)

के०—बीबी जी आप बाहर न जायँ।

र०—(लौट आती है) केसर, यह क्या हो रहा है ?

के०—बीबी जी, किसी का बच्चा······

(बाहर से आवाज़—'चलो बुड्ढे, अरे अन्दर चलो—डेरे में।' बुड्ढे की कराहती हुई आवाज़...'मुझे कहीं न ले चलो...मैं कहीं न जाऊँगा...मेरी शशि...मेरी...शशि।' फिर मंगल की आवाज़—'चलो भी, फिर देख लेना। सरकार के पास चलो।' मंगल का एक बुड्ढे आदमी के साथ प्रवेश। बुड्ढा लँगड़ाता हुआ आता है। उसके घुटने के पास खून के धब्बे हैं। आते ही वह ज़मीन पर गिर पड़ता है। रजनी को देखकर जैसे कराह कर बोल उठता है)—ओह वे लोग ले गये—उस शशि को ले गये !

र०—(पास आकर बैठती हुई) किसे ले गये ? ऐं—किसे ले गये ?

बु०—ले गये—मेरी शशि को ले गये—निर्दयी, पापी, डाकू...ले गये !

र०—मंगल ! तुम बाहर पहरा दो। देखो, कोई आये नहीं।

बु०—अब कौन आयेगा ! ओह, भाग गये बदमाश...भाग गये ! शशि को ले गये ! ओह, कोई ला दो मेरी शशि को....!

र०—ठहरो, ठहरो...बाबा ठीक बतलाओ कौन शशि ?

(बंदूक की आवाज़ आती है)

बु०—ओह, किसी ने बंदूक...बंदूक...मैं जाऊँगा ! जाऊँगा ! शशि...शशि...ओह, मुझे बचाओ।

र०—हाँ, हाँ, तुम्हें कोई कुछ नहीं कर सकता। मेरे पास यह रिवाल्वर है...पहले बताओ—कौन शशि ?

बु०—(रिवाल्वर देखकर) हाँ, हाँ, बतलाता हूँ.....मेरी बेटी...उसे उठा ले गये...बचा लो, मेरी शशि को !

र०—शशि को उठा ले गये ?

बु०—हाँ, मेरी शशि को...!

र०—कौन उठा ले गया ?

बु०—बदमाश...छीन ले गये ! मेरे घुटने पर लाठी की चोट की और जब मैं गिर पड़ा तो वे लोग उसे उठा ले गये ! मेरी शशि...मेरी शशि...! (उठकर बैठ जाता है) बचा लो मेरी शशि को...

र०—कहाँ ले गये हैं वे तुम्हारी शशि को ?

बु०—जाने कहाँ ले गये ! बहुत दिनों से वे लोग मेरे घर आते थे। (दर्द से कराहता है)...ओह ! कहते थे, शशि की मेरे साथ शादी कर दो। मैंने एक दिन फटकार दिया...आज वे लोग गिरोह बना कर आये...(कराहते हुए) मेरी शशि को उठा ले गये...!

र०—(शून्य में देखती हुई) ओह ! स्त्री अपनी रक्षा भी नहीं कर सकती !...(बुड्ढे से) वे लोग किस तरफ गये ?

बु०—अँधेरे में कुछ दिखलाई नहीं दिया। जाने कहाँ ले गये ! मैं भी जाऊँगा, मैं भी जाऊँगा !

र०—अरे, तुम्हें चोट लगी है ! तुम कहाँ जाओगे ?

बु०—जाऊँगा...जाऊँगा, जहाँ मेरी शशि है ! (भागने की चेष्टा करता है)

र०—अरे, लोग तुम्हें मार डालेंगे...ठहरो, ठहरो...

बु०—नहीं, नहीं...मर जाऊँ तो अच्छा है! मेरी शशि... मेरी शशि! मेरी एक ही लड़की शशि··!

र०—(दुहराती हुई) एक ही लड़की शशि...!

बु०—(रजनी की बात पर ध्यान न देते हुए) शशि, बेटा, मैं अभी आता हूँ। बदमाशों को मार डालूँगा.....

(क्रोध और दुःख से लँगड़ाता हुआ जाता है। नेपथ्य में मंगल की आवाज़—'वहाँ मत जाओ जी...!' रजनी अवाक् होकर नेपथ्य की ओर देखती रह जाती है। कुछ क्षणों के बाद—लौटती हुई......)— यह हिंदू समाज है, जहाँ लड़कियाँ इस तरह उठा ली जाती हैं, और वे अपनी रक्षा भी नहीं कर सकतीं......! ओह..... (रिवाल्वर हाथ में सम्हालती है)

के०—नहीं बीबी जी, आप बाहर न जायँ। रात अँधेरी है।

र०—आह, इस बुड्ढे की एक ही लड़की!

के०—बीबी जी...बदमाश लोग हैं।

र०—इन बदमाशों को सज़ा मिलनी चाहिए, नहीं तो ये शह पाते जायँगे।

के०—बीबीजी, जाने कहाँ गये होंगे वे डाकू!

र०—अँधेरी रात...आज ही अँधेरी रात होनी थी। बेचारा बूढ़ा.....बेचारी शशि। उसके भाग्य की ही अँधेरी रात थी।··(अस्थिरता से कमरे में टहलती है) उसके भाग्य की अँधेरी रात····

के०—बीबीजी, सुबह होगी तो देख लीजिएगा।

र०—सुबह क्या पता चलेगा?

के०—न चले बीबी जी...पर रात अँधेरी है...आप आराम कीजिए।

र०—क्या आराम करूँ ! नींद हराम हो रही है।

के०—नींद तो सचमुच न आयेगी बीबी जी। यहाँ बदमाश बहुत हैं।

र०—मेरे पास भी उनकी दवा है, केसर ! (रिवाल्वर दिखलाती है।)

दे०—बीबी जी, अब आप आराम कीजिए।

र०—(पुकारकर) मंगल !

मं०—जी, सरकार। (आता है)

र०—मंगल, उस बुड्ढे का क्या हुआ ?

मं०—सरकार, मेरे रोकने पर भी वह भागता हुआ चला गया और अँधेरे में गुम हो गया जी।

र०—तब तो वह लड़की मिल चुकी। मालूम होता है, यहाँ ऐसी बातें अक्सर होती हैं।

मं०—होती होंगी सरकार।

र०—अच्छा तुम जाओ, आज सोने का काम नहीं है। मेरा जी न जाने कैसा हो रहा है !

मं०—सरकार, आप सो जायँ। मैं जागता रहूँगा। पहरा देता रहूँगा जी।

र०—अच्छा तुम जाओ।

मं०—बहुत अच्छा सरकार। (जाता है)

र०—आज यह पहली रात बड़ी खराब रही। (कुर्सी पर बैठ

जाती है) केसर, उस बुड्ढे के एक ही लड़की थी शशि...उसे डाकू ले गये !

के०—हाँ, बीबी जी।

र०—ओह, बेचारा बूढ़ा मर जायगा अब तो।

के०—नहीं मरेगा बीबी जी...आप सो जायँ। तबियत खराब हो जायगी।

र०—केसर, तुम जाओ।

के०—नहीं बीबी जी, जब तक आप न सोएँगी तब तक मैं यहीं रहूँगी। मैं नहीं सोने की।

र०—मैं (जोर देकर) मैं कहती हूँ, तुम जाओ। ज़रूरत होगी तो बुला लूँगी।

के०—अच्छा, बीबी जी। (जाती है)

र०—(सोचते हुए) शशि...एक ही लड़की...बूढ़ा पिता...!

(सोचती-सोचती कुर्सी पर ही सिर रख लेती है। बाहर से आवाज आती है—'मंगल ! मंगल !')

मं०—कौन है !

आ०—मैं हूँ आनन्द। यहाँ तो कोई नहीं आया ?

र०—(चौंक कर) ओह आनन्द जी ! (पुकारकर) मंगल !

मं०—(नेपथ्य से) जी, सरकार ! (मंगल आता है)

र०—कौन है ? आनन्द जी ?

मं०—जी हाँ, सरकार।

र०—उन्हें जल्दी अन्दर ले आओ।

मं०—बहुत अच्छा, सरकार। (जाता है)

र०—(सोचते हुए) आनंद......जी.....

मं०—(बाहर से) चलिए। आप अन्दर चलिए, सरकार!

[बाहर से टार्च को रोशनी धीरे-धीरे आती है। आनन्द टार्च लिये मंगल के साथ आता है। आनन्द सिर्फ़ कमीज़ और निकर पहने हुए है। पैर में जूते भी नहीं हैं। हाथ में बन्दूक है और कन्धे से होती हुई कारतूसों की पेटी। बाल अस्त-व्यस्त! कमरे में आने पर आनन्द टार्च 'ऑफ़' कर लेता है।]

र०—(व्यग्रता से) आनंद जी, यह यहाँ क्या हो रहा है? मेरी समझ में कुछ नहीं आता!

आ०—आप शान्त हों। घबरायें नहीं, रजनी देवी जी, कुछ नहीं होगा। यहाँ तो सब ठीक है?

र०—हाँ, सब ठीक है।

आ०—आप.....?

र०—मैं अच्छी हूँ, बिलकुल अच्छी हूँ।

आ०—यहाँ तो कोई नहीं आया?

र०—आया था।

आ०—(आश्चर्य से) आया था? कौन? कौन आया था?

र०—एक बुड्ढा। मैंने ही उसे बुलवा लिया था। डाकुओं ने उसे घेर लिया था। उसकी लड़की को वे लोग उठा ले गये। शशि को। वह रो रहा था! उसके घुटनों पर लाठियों की चोट थी।

आ०—घुटनों पर लाठियों की चोट थी ?

र०—हाँ, उसके कपड़े खून से लाल हो रहे थे।

आ०—अच्छा, मैंने अँधेरे में नहीं देखा।

र०—(आश्चर्य से) आपने अँधेरे में नहीं देखा ? आपने भी क्या··(रुक जाती है)

आ०—जैसे ही मैं अपने डेरे पर पहुँचा और अपने कपड़े बदल रहा था वैसे ही मैंने चिल्लाहट और भाग-दौड़ की आवाज़ सुनी। मैं उसी तरफ़ दौड़ा। मैंने जो टार्च की रोशनी की तो उसमें मैंने देखा कि एक लड़की को दो मजबूत आदमी उठाये लिये जा रहे हैं। मैंने उसी समय ललकारा और उन्हें डराने के लिए फ़ायर किया। वे लोग उस लड़की को छोड़ कर भागे।

र०—(शीघ्रता से) ओह··शशि बच गई ! बच गई !

आ०—हाँ, मैंने लड़की पर रोशनी फेंकी। उसका मुँह उन लोगों ने कपड़े से कस रक्खा था। मैं उस कपड़े को खोल ही रहा था कि बेचारा बुड्ढा 'शशि, 'शशि' कहते हुए वहाँ पहुँच गया—शायद मेरे टार्च की रोशनी देख कर। वह बुड्ढा शायद उस लड़की का बाप था। उसे देखते ही लड़की अपने बाप से लिपट गई। मैं बुड्ढे को धीरज देकर और उसकी लड़की उसे सौंप कर इधर चला आया, यह देखने के लिए कि यहाँ तो कोई गड़बड़ नहीं है।

र०—ओह, आनन्द जी, आप कितने बहादुर हैं ! आप कितने अच्छे हैं। अगर आप न होते तो बेचारी शशि को तो वे लोग ले ही गये थे।

आ०—खैर, रजनी देवी, मैंने अपना कर्त्तव्य किया। इसमें बहादुरी की कौनसी बात ? (अपनी बन्दूक हाथों पर तौलता है)

र०—नहीं आनन्दजी, आप कितने साहसी और वीर पुरुष हैं। आनन्द जी, आप बहुत अच्छे हैं।

आ०—ठहरिए, ठहरिए, रजनी देवी, आप लोगों को हम जैसे सिपाहियों की जरूरत है ना !

र०—(सिर हिलाती है, धीरे से) हाँ, है (फिर ज़ोर से) देखिए ना, स्त्री इतनी कमज़ोर हो गई है कि वह डाकुओं से अपनी रक्षा भी नहीं कर सकती !

आ०—इसीलिए तो मैं कहता हूँ कि आप समाज में चलकर स्त्रियों को मज़बूत बनायें। आपके लिए यह एकांत नहीं है।

र०—हाँ, मैं भी समझ रही हूँ, आनन्द जी !

आ०—और देखिए रजनी देवी जी, इन डाकुओं ने आज उस बुड्ढे के यहाँ छापा मारा, कल ये लोग हमारे-आपके घर भी आ सकते हैं।

र०—हाँ, डाकुओं को कौन रोक सकता है ?

आ०—आप लोगों की शक्ति ही इन्हें रोक सकती है। जब इन बदमाशों को मालूम हो जायगा कि किसी लड़की को उठा ले जाने में उन्हें अपनी जान से हाथ धोना पड़ेगा तो फिर कभी ऐसा काम करने की उनकी हिम्मत नहीं पड़ेगी। वे समझेंगे कि स्त्री शक्ति की देवी है, भैरवी है, दुर्गा है।

र०—आप ठीक कहते हैं आनंद जी ! (सोचकर) ओह मैं कहना ही भूल गई...बैठिए...बैठिए...।

आ०—नहीं, धन्यवाद । रात ज्यादा बीत रही है । आप आराम कीजिए...। इन बदमाशों ने आज आप की नींद में विघ्न डाल दिया । ये डाकू और बदमाश अपनी बदमाशी से बाज़ नहीं आते । और जब आपको यहाँ रहना है तो आपको बड़ी खबरदारी से यहाँ रहना चाहिए । खास इन्तज़ाम के साथ । मैं तो कल यहाँ से चला जाऊँगा । आपने अपने अकेले रहने के लिए भयानक स्थान चुना है । खैर, रजनी देवी जी, अब मुझे आज्ञा दीजिए...।

र०—आप ठहरिए ना...मुझे अकेले कुछ...डर मालूम होने लगा है । आप रुकिए ना...नहीं नहीं...आप नहीं रुक सकते... मैं आपको कैसे रोक सकती हूँ !

आ०—नहीं, उसकी कोई बात नहीं है । मैं रातभर जागकर आपका पहरा दे सकता हूँ ।

र०—आपको कष्ट होगा, आनंद जी !

आ०—ओह, आप क्या कह रही हैं ! जाने दीजिए ! मैं अब चलूँ । मेरे पैर में पत्थर का एक टुकड़ा रास्ते में चुभ गया । अँधेरा था । ज़रा उस की देख-भाल...

र०—कहाँ ? कहाँ ? देखूँ ? (आनंद के समीप पहुँच जाती है । उसका पैर पकड़ती है ।)

आ०—नहीं, आप रहने दीजिए, ठीक हो जायगा ।

र०—नहीं, नहीं, देखूँ ? (आनंद का पैर उठाकर देखती है । पैर की उँगलियों से रक्त निकल रहा है ।)

र०—ओह, मैंने तो इसे देखा ही नहीं । मैं अभी पट्टी बाँध

देती हूँ (चारों ओर देखती है फिर शीघ्रता में टेबल-क्लाथ फाड़ कर कोने में रखी हुई टेबल पर रखे ग्लास के पानी में भिगो कर पट्टी बाँधती है ।)

आ०—ओः, धन्यवाद ! धन्यवाद ! रजनी देवी जी, धन्यवाद ! अँधेरे में क्या मालूम होता कि कहाँ पत्थर-कंकड़ है ।

र०—आज आपको बहुत कष्ट उठाना पड़ा ।

आ०—नहीं, इसमें कष्ट क्या ! यह तो प्रत्येक युवक का जीवन होना चाहिए। विपत्ति में लोगों की रक्षा करना..मुसीबतों का सामना करना, ज़िंदगी से लड़ना, समाज को ऊपर उठाना ।

र०—आपने मुझे रास्ते दिखला दिया, आनन्द जी ।

आ०—आप स्वयं एक विदुषी हैं। आपमें ज्ञान का भंडार है। अच्छा, अब आज्ञा दीजिए, चलूँ। तो फिर मैं बाहर मंगल के साथ पहरा दूँ ? आप अकेली हैं।

र०—नहीं आप कष्ट न कीजिए । अब कुछ डर नहीं है। आप जाइए ।

आ०—ठीक है, और जब तक मेरी बन्दूक यहीं पास में है तब तक किसी की हिम्मत नहीं हो सकती कि वह इस ओर नज़र भी कर सके। और आज मेरी बन्दूक की आवाज़ सुन कर तो सब बदमाश भाग ही गये होंगे । दिन में मुझे शिकार नहीं मिला तो ईश्वर ने रात में मेरी बन्दूक को जागने का मौका दिया। (हँसकर) अब यह मेरे कंधे पर भारी न होकर हलकी हो गई है, होशियार स्त्री की तरह......

(रजनी कुछ कह नहीं पाती)

आ०—अच्छा, अब जाता हूँ नमस्ते !

(रजनी मौन नमस्ते करती है)

आ०—देखिए, किसी बात की जरूरत हो तो मंगल को मेरे पास फौरन भेज दीजिए मैं अपने डेरे में जागता रहूँगा।

र०—धन्यवाद ।

(आनन्द जाता है । आनन्द के जाने पर रजनी कुछ देर तक मौन खड़ी रहती है ।)

र०—चले गये ! ...वीर पुरुष आनन्द (एक एक शब्द को रुक रुक कर कहती है) ...आ...नं...द (खिड़की के पास पहुँचती है) कितने सुन्दर ! प्रकाशवान !!

(आकाश की ओर नज़र करती है । चन्द्रमा का उदय होने जा रहा है । तारे आकाश में छिटके हुए हैं । क्षितिज में चन्द्रमा दिखाई पड़ता है।। रजनी उसकी ओर देखती है ।)

र०—(देखती हुई) कितना सुन्दर...कितना प्रकाशवान...! (देखती रहती है । फिर पुकारती है) केसर...!

के०—(बाहर से) आई, बीबीजी । (आती है)

र०—केसर...

के०—आप सोई नहीं, बीबीजी ?

र०—आज सोना भाग्य में नहीं है। केसर देख, कितना अच्छा चन्द्रमा निकल रहा है !

के०—हाँ, बीबी जी !

र०—अगर यह शाम से ही निकल आता तो शशि पर यह

आफ़त क्यों आती ? और अँधेरे में पैरों में चोट क्यों लगती ? खून क्यों बहता ?

के०—कैसी चोट बीबीजी...?

र०—(सँभलकर) उस बुड्ढे के पैर में चोट लग गई थी ना ? घुटने के पास खून बह रहा था। उसके कपड़े लाल हो रहे थे।

के०—हाँ, बीबीजी। उसे तो बहुत चोट लग गई थी।

र०—वही...केसर, तुझे यहाँ बुरा तो नहीं लगता ?

के०—बीबीजी.. आज रात की यह बात देख कर तो डर मालूम होने लगा है। न जाने आपका जी कितना कड़ा है कि यह सब देखकर भी आप यहाँ रहने की सोचती हैं। आज आनन्द जी न होते तो खैर नहीं थी।

र०—तू सच कहती है, केसर...

के०—और बीबीजी, मुझे तो उस बूढ़े आदमी को देखकर बाबूजी की याद आगई। वे भी आपको ऐसे ही प्यार करते हैं! वे तो चले गये जब उन्होंने आपको सब तरह से यहाँ रहने की तबियत देखी। नहीं तो वे कहाँ आपको छोड़ सकते थे यहाँ ? अकेले छोड़ सकते थे ?

र०—केसर, बाबूजी बहुत अच्छे हैं ?

के०—और बीबीजी, आप घर रह कर भी तो पढ़ सकती हैं। यहाँ कौन ज्यादा पढ़ाई हो जायगी ! आनन्दजी रोज़-रोज़ तो आयँगे नहीं।

र०—(चिढ़कर) तू जा। क्या मैं अकेली नहीं रह सकती ?

के०—आप सो जाइए तो मैं चली जाऊँगी।

र०—अच्छा जा, मैं सोती हूँ। (केसर जाती है)

र०—(चंद्रमा की ओर फिर देखती है) मंगल...

मं०—(बाहर से) जी, सरकार।

र०—तू क्या जाग रहा है ?

मं०—जी, सरकार ! आनन्द जी कह गये हैं कि मैं जागता रहूँ। कह रहे थे, कल वह जाने से पहले अपने दो नौकरों को यहाँ और छोड़ जायँगे।

र—तूने मना नहीं कर दिया ?

मं०—मैं मना कर ही नहीं सका जी और वे चले गये।

र०—चले गये...चले गये...! (मंगल से) तुझे बाहर डर तो नहीं लगता ?

मं०—नहीं सरकार, डर काहे का जी। लेकिन आज की बात देख कर मुझे डर लगता है जी।

र०—इस में डर की कौन बात ? अच्छा...सुन...

मं०—बाहर डर की बात तो बहुत है, सरकार...

र०—कुछ नहीं। अच्छा...आनन्द जी चले गये ?

मं०—जी, सरकार...

र०—तो...(सोचने लगती है)

मं०—कहिए, सरकार...?

र०—मंगल, तू उन के डेरे पर जा। देख, चाँद तो निकल आया। अब सब जगह उजेला है।

मं०—अच्छा, सरकार...

र०—आर...और...कनक से कहना कि...रजनी ने कहा है कि··कि··(जल्दी से) मैं भी साथ चलूँगी।

मं०—ओहो...ओहो..साथ चलेंगी ? तब तो क्या बात ! अभी दौड़ के जाता हूँ। (जल्दी से भाग जाता है)

र०—केसर.....

के०—आई, बीबीजी। (आती है)

र०—केसर, सामान ठीक करो। हम लोग भी कल सुबह चलेंगे।

के०—(खुशी से) वाह बीबीजी ! वाह बीबीजी !

[परदा गिरता है]

मालव-प्रेम

(श्री हरिकृष्ण प्रेमी)

पात्र-सूची

जयकेतु—मालवगण का सेनापति ।

विजया—जयकेतु की कुमारी बहन ।

श्रीपाल—विजया का प्रेमी ।

स्थान—मालवदेश । काल—विक्रमी संवत् के २५ वर्ष पूर्व ।

[विक्रम संवत् के प्रारम्भ होने से लगभग २५ वर्ष पूर्व का काल । चंबल-तट का एक ग्राम । विजया नदी-तट की एक शिला पर बैठी हुई गा रही है । समय रात का प्रारम्भ, विजया की वय १६-१७ वर्ष के लगभग है । उज्ज्वल गौरवर्ण, शरीर सुगठित लम्बा, अत्यन्त आकर्षक स्वरूप । आँखों में आकर्षण के साथ तेज । वेश सुरुचिपूर्ण होते हुए भी उसके स्वभाव के अल्हड़पन को व्यक्त करनेवाला । सिर से उत्तरीय का पहलू खिसक कर भूमि पर गिर गया है । उत्तरीय के अतिरिक्त एक दुपट्टा वक्ष और कन्धे के आसपास लिपट पड़ा है । लम्बे बाल वायु में लहरा रहे हैं ।]

विजया—(गान)

जो निकट इतना, वही है
हाय, कितनी दूर !
जब नयन मैं मूँदती, वह
छवि दिखा मुझको लुभाता ।

जब बढ़ाती हाथ तब
कुछ भी नहीं है हाथ आता।
धूल में मिलते अचानक
स्वप्न होकर चूर!
जो निकट इतना वही है
हाय, कितनी दूर!
जो सजन बन 'नयन-तारा'
लोचनों में है समाया।
वह गगन का चाँद होकर
दूर से ही मुसकराया।
इसलिए थमता नहीं है
आँसुओं का पूर।
जो निकट इतना, वही है
हाय, कितनी दूर!
पालने में श्वास के है
हर घड़ी झूला झुलाया।
क्यों न उसने प्रेम मेरा
आज तक पहचान पाया।
मैं उसी को प्यार करने
के लिए मजबूर।
जो निकट इतना, वही है
हाय, कितनी दूर?

[विजया गीत गाने में तल्लीन है। श्रीपाल आकर उसकी नज़र

बचाकर उसके पास खड़ा रहता है। श्रीपाल एक बलिष्ठ और सुन्दर नवयुवक है। उसका वेश योद्धा का है। कमर में तलवार, हाथ में धनुष, कंधे पर पीछे की ओर तरकश। वय लगभग २५ वर्ष।

श्रीपाल—विजया !

विजया—(गाना बन्द करके खड़ी होकर, उत्तरीय का पल्ला सिर पर डालती हुई) तुम बड़े अशिष्ट हो श्रीपाल !

श्रीपाल—ऐसे कोमल कंठ से ऐसे कठोर शब्द शोभा नहीं देते, विजया !

विजया—तुम अपनी सीमा के बाहर जाते हो ?

श्रीपाल—मैंने तुम्हारा अपमान किया है क्या, विजया ?

विजया—अपमान तो नहीं किया ?

श्रीपाल—फिर ?

विजया—यहाँ एकान्त में मुझे अस्तव्यस्त वेश में देर तक चुपचाप खड़े देखते रहना !

श्रीपाल—मैं तुम्हें जीवन भर देखना चाहता हूँ, विजया !

विजया—(किंचित् लज्जा मिश्रित क्रोध से) किस अधिकार से ?

श्रीपाल—जिस अधिकार से चाँद तुम्हें इस समय देख रहा है।

विजया—दूर रह कर आकाश से ?

श्रीपाल—हाँ, तुम मेरे जीवन की प्रेरणा हो, स्फूर्ति हो। तुम्हारी स्मृति मेरे रक्त को गति देती है। तुम्हें पाने की इच्छा करना मेरे जीवन का जीवन है—लेकिन तुम्हें पा लेना मेरे जीवन की मृत्यु है।

विजया—उधर देखते हो, श्रीपाल ! कहीं वर्षा हुई है, इसलिए चम्बल में जल बढ़ गया है। धारा के दोनों ओर चट्टानें हैं। जल को फैलने को स्थान नहीं मिल रहा। वह कितना ज़ोर कर रहा है। कितने वेग से आगे बढ़ रहा है।

श्रीपाल—हमारे-तुम्हारे बीच में इससे भी बड़ी चट्टानें हैं, विजया !

विजया—कौनसी चट्टानें ?

श्रीपाल—तुम्हारा भाई जयदेव ! उसे अपने कुल का अभिमान है। मैं एक साधारण किसान का पुत्र हूँ और तुम भारत की सुप्रसिद्ध मालव जाति की कन्या हो। आकाश की तारिका की ओर पृथ्वी पर पैर रखकर चलनेवाला प्राणी कैसे हाथ बढ़ा सकता है ?

विजया—यदि वह तारिका आकाश से उतरकर तुम्हारी गोद में आ गिरे तो ?

श्रीपाल—मैं उसे स्वीकार नहीं करूँगा।

विजया—क्यों ?

श्रीपाल—मैं कृपा या दान नहीं चाहता।

विजया—तो चोरी करना चाहते हो, डाका डालना चाहते हो ? डाका डालना तो कायरता नहीं है ?

श्रीपाल—मैं इतना छोटा नहीं बनना चाहता कि मुझे अपनी ही चीज़ की चोरी करनी पड़े।

विजया—तब तुम क्या चाहते हो ?

श्रीपाल—बदला ?

विजया—किससे ?

श्रीपाल—तुम्हारे भाई से !

विजया—अच्छा, तो इसीलिए तुमने शस्त्र पकड़े हैं ?

श्रीपाल—जो हल पकड़ना जानता है, वह शस्त्र पकड़ना भी जान सकता है।

विजया—लेकिन उसका उचित प्रयोग करना भी जान पाय तब न।

श्रीपाल—मानवता का तिरस्कार करनेवालों—सृष्टि के चिरंतन भाव प्रेम का अपमान करनेवालों—के विरुद्ध मेरा शस्त्र होगा। जाता हूँ विजया ! तुम मेरे जीवन की स्फूर्ति हो—मैं तुम्हें प्रणाम करता हूँ।

(प्रणाम करता है)

विजया—तुम जा तो रहे हो, श्रीपाल ! लेकिन मुझे भय है तुम मार्ग भूल जाओगे ?

श्रीपाल—तुम्हारा प्रेम मेरा मार्गदर्शक है।

(श्रीपाल का प्रस्थान)

विजया—(श्रीपाल की ओर देखती हुई) विक्षिप्त युवक !

(विजया कुछ क्षण स्तब्ध-सी खड़ी उसी ओर देखती रहती है जिस ओर श्रीपाल गया है। फिर एक लम्बी साँस लेकर शिला पर बैठ जाती है। कुछ क्षण विचार-मग्न रहकर वही गीत गाने लगती है। गीत आधा ही हो पाता है कि उसका भाई जयदेव प्रवेश करता है। जयदेव भी गौर-वर्ण, बलिष्ठ शरीर, बड़ी आँखों और रोबदार चेहरेवाला नवयुवक है। सैनिक वेश-भूषा। कपड़ों से उसका सुसम्पन्न होना प्रकट होता है।)

जयदेव—(विजया के कन्धे पर हाथ रख कर) विजया !

विजया—(चौंककर) ओह, भैया !

जयदेव—चौंक क्यों उठी, बहन !

विजया—मैं डर गई थी !

जयदेव—मालव-कन्या होकर डर का नाम लेती है, विजया !

विजया—मैं शस्त्र की धार से नहीं डरती, सिंह के तीक्ष्ण नखों से नहीं डरती। मैं मनुष्य के शारीरिक बल से नहीं डरती। हिंसा से मैं लड़ सकती हूँ।

जयदेव—फिर डरती किससे हो ? लड़ किससे नहीं सकती ?

विजया—मनुष्य के प्रेम से। (दीन स्वर में) भैया !

जयदेव—(विजया के मस्तक पर हाथ रखते हुए) क्या बात है, विजया ?

विजया—मैं अपने हृदय पर विजय नहीं पा सकी हूँ। प्राणों में आठों पहर ज्वाला जलती है। तुम्हारे वंश-गौरव की दीवार मुझे रोक नहीं सकती। मैं विद्रोह करूँगी।

जयदेव—किससे ?

विजया—तुम्हारे अभिमान से। मेरे भाई मालव-कुल-भूषण जयदेव से !

जयदेव—तुम मुझसे युद्ध करोगी ?

विजया—हाँ।

जयदेव—जीत सकोगी ?

विजया—अवश्य !

जयदेव—कैसे ?

विजया—अपनी बलि देकर। इस शरीर को—जिसमें ऐसा मालव-रक्त प्रवाहित है, जो मुझे प्रेम के स्वाधीन-प्रदेश में जाने से रोकता है—चंबल के उद्दाम प्रवाह में प्रवाहित करके।

जयदेव—बहन, तुझे हो क्या गया है?

विजया—तुम तो सब जानते हो, भैया!

जयदेव—यहाँ श्रीपाल आया था?

विजया—हाँ!

जयदेव—तभी तुम इतनी चंचल हो उठी हो! विजया, तुम्हें एक काम करना पड़ेगा।

विजया—क्या?

जयदेव—मालव-भूमि को श्रीपाल का मस्तक चाहिए।

विजया—मालव-भूमि को या तुम्हें?

जयदेव—मुझे नहीं मालव-भूमि को!

विजया—लेकिन उसे तो तुमसे शत्रुता है मालव-भूमि से नहीं!

जयदेव—वह मेरे अपराध का दण्ड मालव-भूमि को देना चाहता है।

विजया—मालव-भूमि को या मालव-गण को?

जयदेव—जब विदेशी शासन हमारे देश पर होगा तब क्या कोई जाति पराधीनता से बच सकेगी?

विजया—विदेशी शासन मालव पर!

जयदेव—हाँ, जिन शकों ने सिंध और सौराष्ट्र पर अधिकार

कर लिया है उन्हें श्रीपाल ने मालवा पर आक्रमण करने को आमंत्रित किया है।

विजया—तुम लोगों का वंशाभिमान अपने ही देश में देश के शत्रु उत्पन्न कर रहा है। तुमने श्रीपाल का अपमान किया है और निराशा उसे शत्रु के पास खींच ले गई है।

जयदेव—जिस जाति ने सदा भारत के अंग-रक्षक बनकर आततायियों को देश में आने से रोका है, जिसने सिकन्दर महान् की विश्वविजयी यूनानी सेना को हज़ारों प्राणों की बाजी लगाकर वापिस लौट जाने को बाध्य किया उसे क्यों न अपने ऊपर गर्व हो? उसे अपनी सैनिकता एवं बल-विक्रम पर अभिमान क्यों न हो?

विजया—किन्तु जो जाति सैनिक नहीं है, क्या वह मनुष्य ही नहीं है? कार्य-विभाजन नीच-ऊँच की दीवारें क्यों खड़ी करे?

जयदेव—यह इन बातों पर विचार करने का समय नहीं है।

विजया—एक श्रीपाल का मस्तक लेकर देश की रक्षा नहीं कर सकोगे।

जयदेव—तू श्रीपाल और देश दो में से किसे चुनेगी?

विजया—तुम देश और मानवता दोनों में से किसे चुनोगे?

जयदेव—पराधीनता मानवता का सबसे बड़ा पतन है?

विजया—और प्रेम?

जयदेव—जो प्रेम देश की हत्या करे उसका गला घोंटना ही होगा? श्रीपाल मालवा के मार्गों, नदी-पर्वतों से परिचित है। शक-सैन्य संख्या में हमसे अधिक है; उनके पास अपार अश्वा-

रोही दल है, अस्त्र-शस्त्र भी अपरिमित हैं। यदि उन्हें इस देश की भूमि से परिचित व्यक्ति मिल जाय तो परिणाम हमारे लिए भयंकर है। सोचो विजया, उस समय हमारे देश का क्या होगा?

विजया—तुम मेरी हत्या कर दो भैया!

जयदेव—तो तुम देश के महत्त्व को नहीं समझीं। तुम्हारे पिता, तुम्हारे दादा और तुम्हारी न जाने कितनी पीढ़ियों ने इस भूमि की रक्षा में अपना रक्त सींचा है, बहन! कितनी बहनों ने अपने भाइयों को रणभूमि में विसर्जित किया है, कितनी सुन्दरियों ने यौवन के प्रभात-काल में पतियों को स्वर्ग का मार्ग दिखाया है। यह एक विजया या एक श्रीपाल का प्रश्न नहीं है—यह देश का प्रश्न है। बोल बहन, तू क्या कहती है?

(विजया चुप रहती है)

जयदेव—तू सोचना चाहती हो, तो सोच! तू मालव-कन्या है, विजया! मैं अभी आता हूँ।

(जयदेव का प्रस्थान। विजया हतबुद्धि सी खड़ी रहती है। फिर वही गीत गुनगुनाने लगती है। श्रीपाल प्रवेश करता है।)

श्रीपाल—विजया!

विजया—अच्छा हुआ तुम आगये, नहीं तो मुझे तुम्हारे पास जाना पड़ता।

श्रीपाल—हाँ, मैं आगया हूँ। मैंने अपना निश्चय बदल दिया है। मैं तुम्हें अपने साथ ले जाना चाहता हूँ।

विजया—लेकिन श्रीपाल, मैंने अपना निश्चय बदल डाला है।

श्रीपाल—क्या?

विजया—मुझे तुम्हारा मोह छोड़ना होगा।

श्रीपाल—फिर तुम मेरे पास क्यों आना चाहती थीं ?

विजया—हम बचपन में एक साथ खेले हैं। अब जीवन का अन्तिम खेल भी तुम्हारे साथ खेल लेना चाहती हूँ। बोलो खेलोगे श्रीपाल !

श्रीपाल—अवश्य, विजया !

विजया—तो लाओ, तुम्हारे बलिष्ठ हाथों को मैं अपने उत्त-रीय से बाँध दूँ !

श्रीपाल—क्यों ?

विजया—आँख-मिचौनी में आँखें बन्द करते हैं, लेकिन यह नये प्रकार का खेल है इसमें हाथ बाँधने पड़ते हैं। लाओ हाथ बढ़ाओ !

(श्रीपाल हाथ बढ़ाता है, विजया उसके हाथ अपने उत्तरीय से खूब कसकर बाँध देती है। दूसरी ओर से जयदेव का प्रवेश)

श्रीपाल—(जयदेव को देखे बिना ही) अब आगे ?

विजया—आगे का खेल मेरे भैया खेलेंगे (जयदेव की ओर उँगली उठाती है।)

श्रीपाल—विजया, तुम ऐसा छल कर सकती हो इसकी मुझे कल्पना भी नहीं थी !

विजया—मुझे इस बात का अभिमान है कि अपने प्रियतम को मैंने देश-द्रोह से बचा लिया।

जयदेव—(श्रीपाल से) तुम मेरे अपराध का दण्ड अपनी मातृभूमि को देना चाहते हो ?

विजया—और देश ने तुम्हारे अपराध का दण्ड मुझे देने का निश्चय किया है।

श्रीपाल—जयदेव, तुम वीर हो। साहस और पुरुषार्थ के लिए प्रसिद्ध मालव-जाति के गौरव हो, तुम छल द्वारा मुझे बन्धन में बाँधना पसन्द करते हो?

जयदेव—इस समय देश के सम्मुख जीवन-मरण का प्रश्न है श्रीपाल! उदारता के लिए अवकाश नहीं है।

विजया—(श्रीपाल से) प्रियतम, मैं अपने अपराध के लिए क्षमा चाहती हूँ। (गले से हार उतारकर पहनाती हुई) यह मेरे प्रेम का अन्तिम प्रमाण है। आज हमारा स्वयंवर है। आज मालव-जाति की परम्परा के विरुद्ध कृषक-कुमार श्रीपाल को मैं वरमाला पहनाती हूँ। मैं तुम्हारी हूँ और तुम्हारी ही रहूँगी।

श्रीपाल—मेरे हाथ बँधे हुए हैं, विजया! मैं तुम्हें कुछ प्रतिदान नहीं दे सकता। अपने प्रेम का कोई प्रमाण नहीं दे सकता।

विजया—प्रेम प्रतिदान नहीं चाहता। तुम्हारे चरणों की रज मुझे मिल सकती है? मेरे लिए यही अमूल्य निधि है।

(चरण छूती है)

दस हज़ार

[श्री उदयशंकर भट्ट]

पात्र

बिसाखाराम	:	सीमा-प्रांत का एक सेठ
सुन्दरलाल	:	बिसाखाराम का लड़का
राजो	:	बिसाखाराम की लड़की
राजो की माँ	:	सेठ की पत्नी
मुनीम	:	बिसाखाराम का मुनीम

समयः—शाम के पाँच बजे।

[सीमा-प्रांत के एक नगर में एक मकान। मकान में एक बड़ा-सा कमरा, जिसमें दो दरवाज़े हैं। एक सीढ़ी के पास और दूसरा मकान के भीतरी भाग में जाता है। गली की तरफ दो खिड़कियाँ हैं। भीतर कमरे में एक बड़ी खाट है, जिस पर मैला सा बिस्तर बिछा है। पूर्व की तरफ कोने में एक चौकी है, उसके सामने आले में ठाकुर जी का एक सिंहासन है। उसमें कुछ पीतल की मूर्तियाँ हैं। उन पर गेंदे के फूल की माला चढ़ी है। आले की कील में एक रुद्राक्ष की माला है। हाथ की लिखी हुई छोटी-छोटी दो किताबें हैं। कमरे में कुछ तसवीरें है—एक रामचन्द्र, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न की, जिसमें राम के राज्याभिषेक का दृश्य है; हनुमान

माला तोड़ रहे हैं। दूसरी तसवीर काली की है। कमरे में एक मोढ़ा रखा है और एक टूटी हुई कुर्सी, जिसका बेंत टूटा हुआ है। एक छोटी-सी मेज़ एक कोने में रखी है। उस पर एक लोटा और उसके ऊपर एक गिलास रखा है। दो खूँटियाँ गड़ी हुई हैं, उनमें एक पर एक पगड़ी और दूसरी पर एक दुपट्टा और एक मैला-सा कोट है। खाट पर लाला बिसाखाराम बेचैनी से लेटा हुआ है। उसकी आँखों में बेचैनी है। चेहरा पिचका हुआ, रंग गोरा, बाल बिखरे हुए। मालूम होता है बड़ी चिन्ता में है। हाथ में चिट्ठी है, जो बार-बार उठाकर पढ़ता है, और फिर सिरहाने रख देता है। फिर उठा लेता है, पढ़ता है, और फिर रख देता है। उठकर बैठ जाता है और छत की कड़ियों की ओर ताकता है और धम्म से फिर खाट पर लेट जाता है।]

बिसाखाराम—हाय, क्या जाना था, यह दिन भी देखना पड़ेगा! हे राम जी! उबारो महाराज! बड़ी बिथा आ पड़ी है। कोई—कोई उपाय शूझे नहीं है। (आँख मींचकर ठाकुर जी को हाथ जोड़ने लगता है, फिर आँखें खोलकर पत्र हाथ में लेकर पढ़ने लगता है) क्या करूँ? राजो, राजो री!

(भीतर के दरवाज़े से चौदह साल की एक लड़की
दौड़ती हुई आती है)

राजो—हाँ चाच्चाजी! क्या कहो हो?

बिसाखाराम—अरी, क्या अभी मुनीमजी नहीं आये? मरा जाऊँ हूँ। बड़ी मुसीबत है।

राजो—भाई कब आवेंगे भला? (एकदम पास आकर) बुला

लो न भाई को। कुछ रुपयों की ही तो बात है। हाय, (आँखों में आँसू भर कर) हे भगवान्, बड़े नामुराद हैं ये लोग ! चाचाजी, भेज दो रुपया, क्या देखो हो ?

त्रिसाखाराम—(बैठकर) क्या देखूँ हूँ बेटा ! अपनी क़िस्मत को रोऊँ हूँ। रुपया भी कहाँ धरा है ? अभी अनाज भी तो खरीदना है। कल मुहम्मद बकस आने रुपए का सूद देकर दो हज़ार माँगने आया था, उसको भी तो देना ही है। दस हज़ार के सरकारी बौंड खरीदने हैं, ऐसा मौका कब मिलेगा ? इतना सूद क्या छोड़ा जा सके है बेटी ? ओः ! दस हजार देने पड़ेंगे ! (एक दम खाट पर धड़ाम से लेट जाता है)।

राजो—(दौड़कर) चाचाजी, क्या हुआ तुम्हें ? भाभी, ओ भाभी ! देख तो चाच्चा को क्या हुआ है ?

(राजो की माँ 'अरी आई' कहती हुई आती है)

राजो की माँ—कह तो दिया, परेसान होने की क्या जरूरत है ? दे दो दस हजार। रुपए तो फिर भी मिलते रहेंगे। लड़का तो फिर. . हा भगवान्, क्या कह रही हूँ ! हे रामजी ! (हाथ जोड़ कर आले में रखे सिंहासन की तरफ देखने लगती है) यों ही करें हैं ! दया करो भगवान् !

बिसाखाराम—मुनीमजी नहीं आये ? (आँख बन्द कर लेता है)

राजो—आते ही होंगे। तुम्हारा कैसा जी है चाच्चा ?

राजो की माँ—कहूँ तो हूँ, फिकर क्यों करो हो ? हे ईश्वर, मेरे लड़के को लौटा दो। मेरा सब कुछ ले लो। मेरे प्यारे बच्चे को मुझे दे दो भगवान् ! (रोने लगती है।)

राजो—(माँ के गले से लिपटकर) रोवे क्यों है भाभी ? चाचा से कह के भाई को बुला ले न !

राजो की माँ—(आँसू पोंछती हुई) कैसे बुलाऊँ बेटी, तेरे चाचा को तो रुपए की पड़ी है। ईश्वर ने एक ही लड़का दिया... हा भगवान्।

बिसाखाराम—(आँखें खोलकर) राजो, मुनीमजी नहीं आये बेटी ?

राजो—अभी तो नहीं आये।

बिसाखाराम—न मालूम मुनीम ने खाँड का सौदा किया या नहीं ? इस वखत तो खाँड खरीदनी जरूरी है। फिर महँगी हो जायगी। कैसी मुसीबत है। न जाने इब्राहीम से रुपये का तकाजा किया या नहीं ? आज चार साल होने आये, अभी तक सूद भी नहीं दिया। मुकदमा लड़ना पड़ेगा। तब कहीं जाकर वह बेईमान रुपया देगा। (पत्र हाथ में लेकर) पर इसको क्या करूँ ?

('राजो, राजो' नाम लेकर मुनीम आवाज़ लगाता हुआ एक ओर से आता है)

बिसाखाराम—लो, मुनीमजी आ गये। (एक दम उठकर बैठ जाता है) आओ मुनीमजी, आज बड़ी देर लगाई।

(राजो और उसकी माँ दूसरे दरवाज़े से घर में चली जाती हैं)

मुनीम—जै रामजी की सेठ जी ! देर हो गई, दिन-भर का हिसाब-किताब करना था। तेरह आने के हिसाब से खाँड के सौ बोरे ख़रीद लिये हैं। मुहम्मद बकस का आदमी आया था।

मैंने कह दिया, सेठजी के आने पर फैसला होगा। सुना है, इबराहीम फरार हो गया है। रोकड़ मिलाते इतनी देर हो गई है। हाँ, पठानों की कोई चिट्ठी आई क्या ?

बिसाखाराम—खाँड तो बाहर आने चार पाई थी न, फिर तेरह आने क्यों खरीदी ? इबराहीम भाग गया ? यह तो बड़ी बुरी खबर है मुनीमजी, चार हजार नकद हैं। कैसे छोड़े जा सके हैं ? चौधरी से नहीं कहलवाया ? वह तो जामिन है न ? सरकारी बौंड की कोई चिट्ठी आई ? रुपये तैयार रखना। बौंड तो खरीदने ही होंगे।

मुनीम—पठानों की तरफ से कोई चिट्ठी आई सेठजी ?

बिसाखाराम—रोकड़ में कितना बाकी है। चौधरी के पास अभी आदमी भेजो और तकाजा करो। (खाट पर लेट कर) सब तरफ मुसीबत है। रुपया लेकर देने का कोई नाम नहीं लेता। (आँखें बन्द करके लेट जाता है) हा भगवान् ! हे रामजी ! कैसा बुरा समै है ! (उठकर) मैं जाऊँ; अब तबीअत देखूँ या रुपया ? (बैठ जाता है)

मुनीम—नहीं सेठजी। बीमार हो जाना ठीक नहीं है। पठानों ने कुछ नहीं लिखा सेठजी ? सुन्दरलाल का खयाल करना ही चाहिये। न मालूम बिचारे को कैसी तकलीफ दे रहे होंगे। (सेठ की ओर देखता है)

बिसाखाराम—लो यह पढ़ो। कैसा दुष्ट है लड़का ! जरा भी लड़ाई नहीं करी। डोली में नई बहू की तरह उनके साथ चला गया मेरी छाती पै मूँग दलने। कहाँ से लाऊँ दस हजार ? दस

हज़ार ! (चिट्ठी मुनीम के हाथ में देकर) लो पढ़ो, सब बरबाद कर दिया। भला बाहर गया ही क्यों ? (लेट जाता है)

मुनीम—सेठजी, सुन्दरलाल का कोई अपराध नहीं है। उगराही को उसे आपने ही तो भेजा था। (पत्र हाथ में लेकर पढ़ता है।)

बिसाखाराम—(लेटकर) बरबाद हो गया मैं तो मुनीमजी ! हाँ, जरा जोर से पढ़ो।

मुनीम—(चौककर) हैं ! यह तो सुन्दरलाल की ही लिखावट है ! लिखता है—'पिताजी, अगर मेरी जिन्दगी चाहते हो तो किसी आदमी के हाथ काबुली फाटक के बाहर आज ठीक शाम के आठ बजे दस हज़ार रुपया पहुँचा दो ! पुलिस को या और कोई सहायक लेकर आये तो खान कहता है, लड़के को मरा ही समझो। इन लोगों ने मुझे बड़ी तकलीफ दी है। शायद नरक की कोई भी यातना इससे अधिक नहीं हो सकती। मुझे विश्वास है, आप मेरी रक्षा करेंगे।

आपका पुत्र,
सुन्दरलाल।'

नीचे खान ने खुद पश्तो में लिखा है—

'अम तुमको इत्तला देता है, तुम आज बुधवार शाम के आठ बजे दस हज़ार रुपया काबुली फाटक के बाहर पहुँचा दे, नहीं तो तुम्हारा लड़का को मार डालेगा।

अमीरअली खाँ।'

(मुनीम पत्र रख कर बिसाखाराम की ओर देखने लगता है)

मुनीम—सेठजी, दस हज़ार की क्या बात है। आज ही तो बुधवार है। अगर कहें तो मुहम्मद बक्स को न देकर दस हज़ार का इन्तज़ाम कर लूं। रुपया तो है ही।

बिसाखाराम—(उठकर) आने रुपये का सूद है मुनीमजी! (झपटकर) अपने घर से निकालो तो मालूम हो। गाढ़े पसीने की कमाई है। दस हज़ार यों ही नहीं आ जायँ हैं! हे भगवान्! कंगाल कर दिया!

(राजो और उसकी माँ एक दम कमरे में आ जाती हैं)

राजो की माँ—यों ही जायँगे; सुना तुमने मुनीमजी? इनकी अकल पर तो पत्थर पड़ गये हैं। कुछ नहीं सोचते। बस, रुपया, रुपया, मेरा लड़का ला दो मुनीमजी! हाय मेरा सुंदर! हाय मेरा बच्चा रे!

(घूँघट किये ज़मीन पर बैठ जाती है। राजो दौड़कर पिता से लिपट जाती है और निहोरे के ढंग से उसे देखने लगती है।)

बिसाखाराम—भला मुनीमजी! मैं क्या कहूँ हूँ कि सुन्दर न आवे? मैं तो तो खुद चाहूँ कि लड़का किसी तरह आ जावे। मैं क्या सुन्दर का बाप नहीं हूँ? तुम्हीं बताओ। लड़के के बिना तो घर सूना-सूना सा लगे है। पर, दस हज़ार!

मुनीम—(सिर हिलाकर) हाँ सो तो है ही। यह तो करना ही पड़ेगा।

राजो की माँ—आज चार दिन से मैं इनका रूप देख रही हूँ। कहूँ हूँ रुपए के पीछे लड़के को हाथ से न खोओ, रुपया तो हाथ का मैल है। दस हज़ार क्या बड़ी बात है। पर इन्हें

तो न जाने क्या हो गया है। खाँड और सूद से इनका विचार छूटे तब न ! मुनीम जी, मैं तुम्हारे पैर पड़ूँ हूँ मेरे सुन्दर को ला दो।

मुनीम—माता जी, घबराओ मत। सुन्दर को घर पर ही समझो।

राजो की माँ—घर पर कैसे समझूँ मुनीमजी, घबराऊँ क्यों नहीं ? इनकी (पति की ओर इशारा करके) हालत देखकर तो मेरे जी में ऐसा हो रहा है कि मैं लड़का खो बैठूँगी। कहते हैं जो होना था, सो हो गया। और लड़का . हाय ! न मालूम इनसे यह कैसे ऐसा कहा गया ! हे भगवान् !

राजो—मुनीम जी, मेरे भाई को जल्दी बुला दो। देखो, कई रातों से माँ सोई नहीं हैं। सारी सारी रात रोती रही हैं। आँखें सूज गई हैं। मेरे भाई को जल्दी ले आओ, मुनीमजी !

(रोने लगती है)

राजो की माँ—मैं कहूँ हूँ, मेरा गहना लेकर बेच दो और मेरे लड़के को बचा लो।

मुनीम—घबराने की क्या बात है माताजी, सेठजी को भी तो आपसे कम फिकर नहीं है।

विसाखाराम—हाँ सो तो है हो। मैं भी कब सोया हूँ रात में। दिन-रात चिन्ता लगी रहती है। सुन्दर मेरी आँखों के सामने झूमता रहे है। उसके बचपन की बातें याद आया करे हैं। इधर इब्राहीम रुपया देने में हो नहीं आवे। क्या तुमने उसके सूद का हिसाब लगाया मुनीमजी, कितना बने है उसके ऊपर ? खाँड कहाँ

रखवाई है, गोदाम में न ? देखो, तालियाँ अपने पास ही रखना। न हो तो मुझे दे जाओ।

मुनीम—सेठजी, सुन्दरलाल के लिए क्या हुक्म है ? रुपए का इंतज़ाम करूँ ? बहुत थोड़ा वक्त है। (सेठ की ओर देखता है) पन्द्रह हजार तिजोरी में अभी रखकर आया हूँ।

विसाखाराम—दस हजार ! न कम न थोड़ा। अरे और कोई इन्तजाम नहीं हो सके है मुनीमजी ! पुलिस को खबर क्यों न कर दो।

मुनीम—पुलिस भी क्या कर लेगी सेठजी, पुलिस भी तो डरे है। और उसे क्या मालूम नहीं है, पर वह करे तब तो ! सेठजी, मैं तो आपको सलाह न दूँगा कि आप और इन्तज़ाम करें। नहीं तो आप लड़के से हाथ धो बैठेंगे। न करे ईश्वर !

राजो की माँ—तुम किस संसै में पड़े हो मुनीम जी ? मेरा गहना ले जाओ। (उतारकर सामने रख देती है) लो, मेरे लड़के को ला दो। चलो, मैं भी तुम्हारे साथ चलूँगी।

विसाखाराम—क्यों सब मेरे प्रान खाये जाओ हो ? गहना भी कौन घर का नहीं है ?

मुनीम—सेठजी ! देर हो रही है, हुक्म दो।

राजो की माँ—कह तो रही हूँ, यह ले जाओ। पठानों को दे देना।

विसाखाराम—क्या करूँ मैं फिर ? मुनीमजी ! अलीबक्स अपने गहने छुड़ा ले गया क्या ?

मुनीम—देर हो रही है सेठजी ! काबुली फाटक तक पहुँचना

है, क्या हुक्म है ?

बिसाखाराम—(दस हज़ार का ख्याल आते ही फिर बेसुध-सा होकर लेट जाता है)

मुनीम—क्या आज्ञा है सेठजी ? इसलिए जल्दी कर रहा हूँ कि दुकान से कुछ आदमी साथ ले लूँगा।

राजो की माँ—अरे बोल तो दो ! न बोलो ! मुनीम जी, (अकड़कर) ले जाओ रुपया। मैं क्या घर की, दुकान की, कोई भी नहीं हूँ ? जाओ देर न करो। हे भगवान् !

मुनीम—जो हुक्म। (चला जाता है)

राजो—(माँ से) अब भाई आ जायगा माँ ?

माँ—हाँ बेटी, लेने गये हैं मुनीम जी। भगवान् का नाम ले सुन्दर राजी-खुशी घर लौटे।

बिसाखाराम—(एकदम चेतन सा होकर) मुनीमजी गये ?

राजो—हाँ गये, चाचा जी !

बिसाखाराम—घर बरबाद कर डाला। क्या से क्या हो गया ! लड़का कपूत निकला। हाय; कैसे मैंने पैसा कमाया। दस हज़ार ! हाय राम रे ! (फिर लेट जाता है) अरी राजो की माँ, मैं मरा !

राजो की माँ—कहूँ कौन बड़ी रकम है। घर बच्चा आ जाय तो और हो जायँगे रुपए। परमात्मा ने सब कुछ तो...हे भगवान् दया करो। तुम इतनी चिंता क्यों करो हो ?

बिसाखाराम—चिंता न करूँ ? (बैठकर) खून की कमाई है, खून की ! आज चालीस साल से लगातार दिन-रात एक

करके रुपया कमाया है। (लेट जाता है)

राजो की माँ—कमाया है तो फ़ायदा। न तीरथ, न जप-तप, न व्रत। कभी हरिद्वार भी न ले गये। मैं तो तुम्हारा पैसा जानती ही नहीं। चार कोठियाँ हैं और हम इसी गली में पड़े सड़ रहे हैं। आज तीन-चार लाख रुपये के मालिक हो। एक पैसा भी कभी दान नहीं किया। ऐसा रुपया किस काम का ?

विसाखाराम—(उठ कर) आग लगा दे घर में ! मुनीम ने आज की बिक्री का कोई हिसाब ही नहीं दिया। बेइमान हो गया है। हे रामजी, (लेट जाता है) दस हज़ार रुपया इस नालायक के...मुनीम कहाँ गया है राजो ?

राजो की माँ—और रुपया होता ही किसलिए है ? इसमें सुन्दर का क्या अपराध है भला ?

विसाखाराम—मुनीम कहाँ गया ? शायद उगराही करने गया होगा। हे रामजी, दया करो ! (लेट जाता है)

(सुन्दरलाल और मुनीम का प्रवेश। राजो की माँ सुन्दरलाल को देखकर फूट-फूटकर रोने लगती है। राजो भाई से लिपट जाती है। लड़का दौड़कर पहले विसाखाराम, फिर अपनी माँ के पैर छूता है)

विसाखाराम—(पुत्र को देख कर) आ गया रे ! बड़ी खुशी हुई।

राजो की माँ—आज बेटे को देखकर छाती ठंढी हुई। (उससे लिपट जाती है) मेरी आँखों के तारे !

राजो—मेरे भैया ! (उसके गले से लिपट जाती है)

राजो की माँ—कैसा दुबला हो गया इतने ही दिन में !

सुन्दरलाल—हाँ मा ! भगवान् इन राक्षसों के पंजे में न डाले। देख, मार मार कर तमाम देह सुजा दी है। (देह दिखाकर) हड्डी-हड्डी दुख रही है।

विसाखाराम—बड़ा अच्छा हुआ बेटा ! कैसे आये ? क्या वैसे ही उन्होंने छोड़ दिया ? मुनीमजी ! आज उगराही में क्या मिला ?

सुन्दरलाल—(मुनीम जी की ओर देख कर) दस हजार रुपये दिये थे न ?

मुनीम—(घबराकर) हाँ, सेठानी जी ने हुक्म दिया था।

विसाखाराम—क्या पूरे दस हजार !

(एकदम धड़ाम से तकिये पर गिर पड़ता है। सुन्दरलाल, मुनीम, राजो विसाखाराम की ओर देखते हैं)

राजो की माँ—(सुन्दरलाल को थपथपाती हुई) इन्हें नींद आ गई है बेटा, आओ चलें।

(पर्दा गिरता है)

———

तौलिये

(श्री उपेन्द्रनाथ अश्क)

पात्र

वसन्त
मधु
सुरो
चिन्ती
मंगला

स्थान

नयी दिल्ली

[पर्दा वसन्त के ड्राइंगरूम में उठता है । ड्राइंगरूम न बहुत बड़ा है, न छोटा । बहुत सजा हुआ भी नहीं है । वसन्त एक अढ़ाई सौ मासिक पाता है । पर नई दिल्ली के अढ़ाई सौ...... लेकिन वह फर्म का मैनेजर है, इसलिए टेलीफोन लगा है, इस-लिए कमरा भी सजा है—बाईं दीवार के साथ एक मेज़ लगी है, उस पर काग़ज़-पत्रों के अतिरिक्त टेलीफोन रखा है ।

मेज़ के इधर एक दरवाज़ा है, जो अन्दर कमरे में जाता है। मेज के उस ओर कोने में एक अँगीठी है, किन्तु आग शायद इसमें नहीं जलती, क्योंकि अँगीठी का कपड़ा अत्यन्त सुन्दर है; उस पर सजावट की चीज़ें भी रखी हुई हैं—वैसी ही जैसी मध्यवर्गीय घरों में होती हैं—लेकिन वे बिखरी नहीं हैं और करीने से लगी हुई हैं । दो पीतल के गुलदान दूसरी वस्तुओं के

अतिरिक्त अँगीठी के दोनों कोनों पर रखे हुए हैं। इसी अँगीठी के कपड़े की लंबी झालर को छूता हुआ एक रेडियो सेट, नीचे एक छोटी-सी मेज़ पर रखा है, जिसके मेज़पोश का डिज़ाइन अँगीठी के कपड़े से मैच करता है और मधु की सुरुचि का पता देता है।

अँगीठी के ऊपर दीवार पर एक कैलेंडर लटक रहा है—जिससे कि मेज़ पर बैठे हुए व्यक्ति के ऐन सामने पड़े। कैलेंडर को एक नज़र देखने से मालूम होता है कि नवम्बर का महीना है।

अँगीठी के बराबर एक दरवाज़ा है जो रसोई में जाता है।

इस दरवाजे से ज़रा हटकर सामने की दीवार के साथ एक बेंत का कौच का सेट है। इसके आगे एक तिपाई पड़ी है। सेट की गद्दियाँ सुन्दर और सुरुचिपूर्ण हैं और तिपाई का कवर अँगीठी के कपड़े से मैच करता है।

सामने, दीवार के बाईं ओर, कौच से ज़रा हट कर एक दरवाजा है जो स्नानगृह को जाता है।

बाईं दीवार के साथ शृंगार की मेज़ लगी है जिससे वसन्त और मधु दोनों अपने टायलेट का काम लेते हैं। इसके ऊपर खूँटियों पर तौलिये टँगे हैं। मेज़ के दोनों ओर एक-दो कुर्सियाँ पड़ी हैं।

दाईं दीवार में इधर को एक दरवाज़ा है जो बाहर जाता है।

पर्दा उठते समय हम वसन्त को शृंगार की मेज़ पर बैठे हजामत बनाते देखते हैं। वास्तव में वह हजामत बना चुका है और तौलिये से मुँह पोंछ रहा है। तभी रसोई के दरवाजे से स्वेटर बुनती हुई मधु प्रवेश करती है।]

मधु—यह फिर आपने मदन का तौलिया उठा लिया। मैं कहती हूँ आप...

वसन्त—(मुँह पोंछते-पोंछते रुककर) ओह ! यह कमबख्त तौलिये ! मुझे ध्यान ही नहीं रहता ! बात यह है (हँसता है) कि मदन के तौलिये छोटे हैं और हजामत.....

मधु—(चिढ़कर) और हजामत के तौलिये जैसे हैं। जी ! ज़रा आँख खोलकर देखिए हजामत के तौलिये कितने रंगीन हैं, बीसियों तो धारियाँ पड़ी हुई हैं उनमें और मदन के कितने सादे और..

वसन्त—लेकिन रोएँदार तो...

मधु—(व्यंग से) दोनों हैं। जी ! आँखें बन्द करके आदमी दोनों का अन्तर बता सकता है। मैं कहती हूँ.....

वसन्त—(निरुत्तर होकर) वास्तव में मेरा ध्यान दूसरी ओर था। लाओ, मुझे हजामत का तौलिया दे दो। कहाँ है ? मुझे दिखाई नहीं दिया।

मधु—(खूँटी पर टँगा हुआ तौलिया उठाकर) यह तो टँगा है सामने, फिर भी.....

वसन्त—मैंने ऐनक उतार रखी है और ऐनक के बिना तुम जानती हो हमारी दुनिया......

(खिसियानी हँसी हँसता है)

मधु—जी, आपकी दुनिया ! जाने आप किस दुनिया रहते हैं। अब तो ऐनक नहीं। ऐनक हो तो कौन-सा आपको कुछ दिखाई देता है।

(मुँह फुला धम से कौच में धँस जाती है । और चुपचाप स्वेटर बुनने लगती है। वसन्त हजामत का सामान रखता है; फिर अचानक उसकी ओर देखकर)

वसन्त—यह तुमने फिर मुँह फुला लिया। नाराज़ हो गई हो ?

मधु—(व्यंग से हँसकर) नहीं मैं नाराज़ नहीं।

वसन्त—तुम्हारा ख़याल है कि मैं इतना मूर्ख हूँ जो यह भी नहीं पहचान सकता ?

मधु—(उसी तरह हँसकर) मैं कब कहती हूँ ?

वसन्त—(सामान वैसे ही छोड़कर कुर्सी को उसकी ओर घुमाते हुए) मैंने तुमसे कितनी बार कहा है कि अपने भावों को छिपा लेने की निपुणता तुम्हें प्राप्त नहीं। तुम्हारी उपेक्षा, तुम्हारा क्रोध, तुम्हारी समस्त भावनाएँ तुम्हारी आकृति पर प्रतिबिंबित हो जाती हैं। तुम्हें मेरी आदतें बुरी लगती हैं। पर मैंने तुम्हें अँधेरे में नहीं रखा। अपने सम्बन्ध में अपने स्वभाव के सम्बन्ध में, सब कुछ बता दिया था। मैंने अपने सब पत्ते......

मधु—मेज़ पर रख दिये थे। (उसी तरह व्यंग से हँसकर) मैं कब इनकार करती हूँ ?

वसन्त—तुम्हारी यह हँसी कितनी विषैली है। इसी तरह विष घोल-घोलकर तुमने अपने स्वास्थ्य का सत्यानाश कर लिया है।

मधु—(चुप रहती है)

वसन्त—मैं तुम्हें किस प्रकार विश्वास दिलाऊँ कि मैं स्वयं

सफाई का बड़ा भारी समर्थक हूँ।

मधु—(हँसती है) इसमें क्या सन्देह है ?

वसन्त—और मुझे स्वयं गन्दगी पसन्द नहीं।

मधु—(सिर्फ़ हँसती है)।

वसन्त—पर मैं तुम्हारी तरह 'अरिस्टोक्रेटिक' (Aristocratic) वातावरण में नहीं पला और मुझे नजाकतें नहीं आतीं। हमारे घर में सिर्फ एक तौलिया होता था और हम छहों भाई उसे काम में लाते थे।

मधु—आप मुझे 'अरिस्टोक्रेट' कहकर मेरा उपहास करते हैं। मैं कब कहती हूँ, दस-दस तौलिये हों।

वसन्त—दस और किस तरह होते हैं। नहाने का अलग, हजामत बनाने का अलग, हाथ मुँह पोंछने का अलग। और फिर तुम्हारे और मदन के........

मधु—(पहलू बदलकर) लेकिन मैं पूछती हूँ, इसमें दोष क्या है ? जब हम खरीद सकते हैं तो क्यों न दस-दस तौलिये रखें। कल, परमात्मा न करे, हम इस योग्य न रहें, तो मैं आपको दिखा दूँ कि किस तरह गरीबी में भी सफाई रखी जा सकती है—तौलिये न सही, खादी के अँगोछे सही, कोई पुरानी-धुरानी पर उजली चादर या धोती के टुकड़े सही—कुछ भी रखा जा सकता है। लेकिन जिस तौलिये से किसी दूसरे ने बदन पोंछा हो, उससे किस प्रकार कोई अपना शरीर पोंछ सकता है ?

वसन्त—मैं कहता हूँ, हम छः भाई एक ही तौलिये से बदन पोंछते रहे।

मधु—लेकिन बीमारी......

वसन्त—हममें से किसी को कभी कोई बीमारी नहीं हुई।

मधु—पर चर्म-रोग...

वसन्त—तुम्हें और मदन को तो कोई बीमारी नहीं...... और फिर रोग इस तरह नहीं बढ़ता। रोग बढ़ता है कमजोरी से। जब हमारे शरीर में रोग से लोहा लेने वाले लाल कीटाणु कम हो जाते हैं, तब! चूहा सैदनशाह की बात जानती हो?

मधु—चूहा सैदनशाह......

वसन्त—शिकार करने के विचार से कुछ अफसर चूहा सैदनशाह गये। उनमें अमेरिका के राक-फैलर ट्रस्ट के कुछ डाक्टर भी थे। लंच के समय उन्हें पानी को आवश्यकता पड़ी। बैरे ने आकर बताया कि गाँव में कोई कुआँ नहीं, लोग जोहड़ का पानी पीते हैं। डॉक्टरों को विश्वास न आया। क्योंकि जोहड़ का पानी मैला चीकट था। ऐसी कोई ही बीमारी होगी, जिसके कीड़े उस पानी में न हों। और चूहा सैदनशाह के जाट हृष्ट-पुष्ट, लम्बतड़ंगे...

मधु—तो क्या आप चाहते हैं, हम जोहड़ का पानी पीना शुरू कर दें? (हँसती है)

वसन्तक—(उठकर कमरे में घूमता हुआ) तुम इस बात पर अपनी विपाक्त हँसी बिखेर सकती हो, (उसके सामने रुककर) लेकिन तुम्हें मालूम हो कि अमेरिका के डाक्टर वहीं रहे। एक जाट के रक्त का उन्होंने विश्लेषण किया। मालूम हुआ कि उसमें

रोग का मुकाबिला करने वाले लाल कीटाणु रोग की मदद करने वाले कीटाणुओं से कहीं ज्यादा हैं। तब उन्होंने वहाँ के लोगों की खुराक का निरीक्षण किया। पता चला कि वे अधिकतर दही और लस्सी का प्रयोग करते हैं और दही में बहुत-सी बीमारियों के कीटाणुओं को मारने की शक्ति है। बीमारी का मुकाबिला इन नज़ाकतों और नफासतों से नहीं होता, बल्कि शरीर में ऐसी शक्ति पैदा करने से होता है, जो रोग के आक्रमण का प्रतिरोध कर सके। (फिर घूमने लगता है)

मधु—मैंने चूहा सैदनशाह की बात सुन ली। मैले तौलियों से शरीर में लाल कीटाणु फैलें या श्वेत मुझे इससे मतलब नहीं। मैं तो इतना जानती हूँ कि बचपन ही से मुझे सफाई पसन्द है। मामा जी......

वसन्त—(मेज़ के कोने का सहारा लेकर) तुमने फिर अपने मामा और मौसा की कथा छेड़ी। माना वे विलायत हो आये हैं, किन्तु इसका यह मतलब तो नहीं कि जो वे कहते हैं वह वेदवाक्य है। उस दिन तुम्हारे मौसा आये थे। उन्होंने हाथ धोये तो मैंने कहीं भूल से तौलिया पेश कर दिया। (मधु के पास जाकर) उन्होंने दाँत निपोर दिये (नकल उतारते हुए) "मैं किसी दूसरे के तौलिये से हाथ नहीं पोंछता"—और वे अपने रुमाल से हाथ पोंछने लगे। मैं पूछता हूँ अगर वे तौलिये से हाथ पोंछ लेते तो उन्हें कौन सी बीमारी चिमट जाती ?

मधु—अब यह तो......

वसन्त—और तुम्हारे मामा जी......(वापस जाकर फिर मेज़

पर बैठ जाता है) तुम्हारे जाने के बाद एक दिन मैं उनके यहाँ गया। रात वहीं रहा। दूसरे दिन मुझे सीधे दफ़्तर आना था। कहने लगे—हजामत यहीं बना लो। मैंने कहा—मैं एक दिन छोड़कर हजामत बनाता हूँ, मुझे कोई ऐसी ज़रूरत नहीं। जब उन्होंने अनुरोध किया तो मैंने कहा—"अच्छा, बनाये लेता हूँ !" तब वे एक निकृष्ट-सा रेजर ले आये और कहने लगे (नकल उतारते हुए)—"मैं अपने रेज़र से किसी दूसरे को हजामत नहीं बनाने देता, इसीलिए मैंने मेहमानों के लिए दूसरा रेज़र रख छोड़ा है"—क्रोध के मारे मेरा रक्त खौल उठा, लेकिन अपने आपको रोककर मैंने केवल इतना कहा—"रहने दीजिए मैं घर जाकर शेव कर लूँगा।"

मधु—मामा जी...

वसन्त—(अपनी बात जारी रखते हुए) इस पर शायद उन्हें महसूस हुआ कि मुझे उनकी बात बुरी लगी और उन्होंने मुझे अपने ही रेज़र से हजामत बनाने पर विवश कर दिया। किन्तु मेरे हजामत बनाने के बाद मेरे ही सामने ब्लेड उन्होंने लान में फेंक दिया और नौकर से कहा कि रेजर को Sterilize कर लाये (नकल उतारते हुए) मामा जी...

मधु—मैं कहती हूँ, आप उनके स्वभाव से परिचित नहीं, आपको बुरा लगा। स्वच्छता की भावना भी काव्य और कला ही की भाँति...

वसन्त—(आवेग में उसके पास आकर) क्यों काव्य और कला को अपनी इस घृणा में घसीटती हो। तुम्हारे ऐसे वाता-

वरण में पले हुए सब लोगों की नफ़ासत में नफ़रत की भावना काम करती है—शरीर से, गन्दगी से जीवन से नफ़रत की !

मधु—(चुप रहती है)

वसन्त—और मुझे जीवन से घृणा नहीं। मुझे शरीर से भी घृणा नहीं और मैं सच कह दूँ, मुझे गंदगी से भी घृणा नहीं।

मधु—(हँसती है) तो फिर कूड़ों के ढेरों पर बैठिए !

(वसन्त फिर कुर्सी पर जा बैठता है, और कुर्सी को और समीप ले आता है)

वसन्त—मुझे गंदगी से घृणा नहीं, किन्तु मैं गंदगी पसन्द नहीं करता—बड़ा नाजुक-सा फ़र्क़ है। यदि हमें जीवन का सामना करना है तो रोज़ गंदगी से दो-चार होना पड़ेगा, फिर इससे घृणा कैसी ? जिन गरीबों को तुम अपने बरामदे के फर्श पर भी पाँव न रखने दो, मैं उनके पास घंटों बैठ सकता हूँ।

मधु—(हँसती है)

वसन्त—और मैंने ऐसे गंदे इलाकों में जीवन के निरन्तर कई वर्ष बिताये हैं, जहाँ तुम्हारी स्वच्छता की सनक तुम्हें गुज़रने तक न दे। समझीं !

मधु—(वहीं बैठे और वैसे ही स्वेटर बुनते हुए) पर अब तो आप विपन्न नहीं। अब तो आप गंदे इलाकों में नहीं रहते। विपन्नता की विवशता को मैं समझ सकती हूँ किन्तु गंदेपन का

स्वभाव मेरी समझ से दूर की वस्तु है।

वसन्त—तो तुम्हारे विचार में मैं स्वभाव से गंदा हूँ।

मधु—(उसी विषैली हँसी के साथ) मैं कब कहती हूँ।

वसन्त—(खड़ा हो जाता है) ऐसे दिन मुझ पर आये हैं, जब एक बनियाइन पहने मुझे कई दिन गुजर जाते थे। उसे धोने तक का अवकाश न मिलता था और अब मैं दिन में दो दो बार बनियाइन बदल लेता हूँ। अगर यह गंदेपन की आदत है तो…

मधु—(उसी हँसी के साथ) मैं कब कहती हूँ ?

वसन्त—स्वच्छता बुरी नहीं, पर तुम तो हर चीज को सनक की हद तक पहुँचा देती हो, और सनक से मुझे चिढ़ है। (फिर कमरे में घूमने लगता है) बनियाइनों और तौलियों की कैद मैंने मान ली, किन्तु यदि मैं गलती से बनियाइन न बदल पाऊँ, या गलत तौलिया ले लूँ तो इसका यह मतलब तो नहीं कि मेरे स्वभाव पर तुम्हें मुँह फुलाकर बैठ जाना या अपनी विषैली हँसी बिखेरना चाहिए।

मधु—(चुप रहती है)

वसन्त—(रेडियो के पास से) तुमने अपने आपको इन मिथ्या बन्धनों में इतना जकड़ लिया है कि मेरा जरा सा खुलापन भी तुम्हें अखरता है। अपने सिद्धान्तों को तुमने सनक की हद तक पहुँचा दिया है। ऊषी और निम्मो…

मधु—(बुनना छोड़ देती है) आपने फिर ऊषी और निम्मो की बात चलाई। ऊषी और निम्मो…

वसन्त—(हँसते हुए) कल मिल गई बाजार में। मैंने पूछा—निम्मो, आई नहीं तुम इतने दिनों से। कहने लगीं—हमको चचो से डर लगता है। (हँसता है)

मधु—(उसी विषैली हँसी के साथ) मैं उन्हें खा जाती हूँ।

वसन्त—(तिपाई के पास से) खाओगी तो तुम क्या, पर वे बच्चियाँ हैं.....

मधु—बच्चियाँ ! (व्यंग्य से हँसती है)।

वसन्त—(उसके व्यंग्य को सुना-अनसुना करके तिपाई पर बैठते हुए) हँसना उनका स्वभाव है। वे हँसेंगी तो बेबात की बात पर हँसेंगी और तुम्हारा ऐटीकेट—बस दबे-दबे घुटे-घुटे फिरो—ऊँह ! (बेज़ारी से सिर हिलाकर उठता है) जो आदमी जी भर खा-पी नहीं सकता, हँस-हँसा नहीं सकता, वह जीवन में कर ही क्या सकता है। चिन्ताओं और आपत्तियों के बन्धन ही क्या कम हैं जो जीवन को शिष्टाचार की बेड़ियों से जकड़ दिया जाये—यह न करो, वह न करो; ऐसे न बोलो, वैसे न बोलो—इन आदेशों का कहीं अन्त भी है।

मधु—(चुप रहती है)

वसन्त—और फिर तुम्हारे इस शिष्टाचार में वह स्निग्धता कहाँ है ? तुम्हारे आने से पहले मैं, देव और नारायण एक ही लिहाफ में बैठ जाते थे। जरा कल्पना तो करो—सर्दियों की सुबह या शाम, एक ही चारपाई पर, एक ही रजाई घुटनों पर ओढ़े, चार-पाँच मित्र बैठे हैं। गप्पें चल रही हैं। सुख-दुःख की बातें हो रही हैं। वहीं चाय आ जाती है। साथ-साथ बातें होती हैं,

साथ-साथ चुस्कियाँ लगती हैं—इस कल्पना में कितना आनन्द है, कितनी स्निग्धता है। अब मित्र आते हैं। अलग-अलग कुर्सियों पर बैठ जाते हैं। एक दूसरे पर बोझ मालूम होता है। (जोश से) चिड़िया तक तो फटकने नहीं देती तुम बिस्तर के पास। मैं तो इस तकल्लुफ़ में घुटा जाता हूँ।

(जाकर कुर्सी पर बैठ जाता है और हजामत का सामान ठीक से रखने लगता है।)

मधु—मैं तकल्लुफ़ स्वयं पसंद नहीं करती। पर जब दूसरों को सफाई का कुछ भी खयाल न हो तो विवश हो इससे काम लेना पड़ता है। आपही बताइए—कितने लोग हैं, जिन्हें सफ़ाई की आदत है? कितने हैं जो हमारी तरह पाँव धोकर रजाई में बैठते हैं।

वसन्त—(वहीं से) पाँव धोने की मुसीबत रजाई में बैठने का लुत्फ़ ही किरकिरा कर देती है।

मधु—कुत्ता भी बैठता है तो दुम हिलाकर बैठता है। मनुष्य स्वभाव ही से स्वच्छता का प्रेमी है। मैं गंदे लोगों से घृणा करती हूँ। (फिर स्वेटर बुनने लगती है)

वसन्त—(मुड़कर) घृणा—यही तो मैं कहता हूँ। तुम्हें मुझसे घृणा है, मेरे स्वभाव से घृणा है, तुम्हारा वातावरण मेरे वातावरण से घृणा करता है।

मधु—(उसी विषैली हँसी के साथ) यह आप कह सकते हैं।

वसन्त—तुम्हें मेरी हर एक बात से घृणा है—मेरे खाने-पीने से, उठने-बैठने से, हँसने-बोलने से—मैं जब हँसता हूँ, सीना

फुलाकर हँसता हूँ और इसीलिए ऊषी और निम्मो...

मधु—(स्वेटर को फेंककर) आपने फिर ऊषी और निम्मो की कथा छेड़ी। मुझे हँसना बुरा नहीं लगता। पर समय कुसमय का भी ध्यान होना चाहिए। उस दिन पार्टी में आते ही ऊषी ने मेरे कान पर चुटकी ले ली और निम्मो ने मेरी आँखें बन्द कर लीं। कोई समय था उस तरह हँसी-मज़ाक का। मुझे हँसी-मज़ाक से घृणा नहीं, अशिष्टता से घृणा है।

वसन्त—ऊषी.........

मधु—परले सिरे की अशिष्ट और असभ्य लड़की है। मदन की वर्षगाँठ के दिन वे सब आये थे। निम्मो इतनी चंचल है, पर वह तो बैठ गई एक ओर, और यह नवाबज़ादी सैंडल समेत आ बैठी मेरे सामने टाँगें पसारे और उसके गंदे सैंडल—मेरी साड़ी के बिलकुल समीप आ गये। आप इस अशिष्टता को शौक से पसन्द करें, मैं तो इसे कदापि पसन्द नहीं कर सकती। जिसे बैठने, उठने, बोलने का सलीका नहीं, वह मनुष्य क्या पशु है।

वसन्त—(गरज कर) पशु! तो तुम मुझे पशु समझती हो? तुम मनुष्य की प्राकृतिक भावनाओं को बाँधकर रखना चाहती हो कठिन सिद्धान्तों की बेड़ियों में, ताकि उसकी रूह ही मर जाये। मुझे यह सब पसन्द नहीं और इसलिए तुम मुझे घृणा करती हो। तुम्हारी इस विषाक्त हँसी में, मैं जानता हूँ, कितनी घृणा छिपी है और मुझे डर है कि किसी दिन मैं सचमुच पशु न बन जाऊँ। अभी मेरा जी चाहा था कि इस ज़लील से तौलिये को उठाकर

बाहर फेंक दूँ और...और...मेरा जी चाहा करता है कि मैं तुम्हारी इस हँसी का गला घोंट दूँ। घृणा—तुम मेरी हर बात से घृणा करती हो—मुझे पशु समझती हो !

मधु—(स्वेटर उठाते हुए भरे हुए गले से) आप नाहक हर बात को अपनी ओर ले जाते हैं। अपनी कल्पना से मेरे दिल में वे बातें देखते हैं, जो मैं स्वप्न में भी नहीं सोचती। मुझे आपसे घृणा है या नहीं, इसे मैं ही जानती हूँ; पर आपको मुझसे जरूर घृणा है। आपने मुझसे शादी कर ली, मैं जानती हूँ। क्यों कर ली, यह भी जानती हूँ। लेकिन विवाह के लिए आपका तैयार हो जाना, यह नहीं बताता कि आपको मुझसे नफ़रत नहीं। इसका क्रोध चाहे अब आप मेरी सफ़ाई पर निकालें, चाहे मेरी पोशाक या मेरे स्वभाव पर !

वसन्त—तुम......

मधु—मेरा ख़याल था, मैं आपको सुख पहुँचा सकूँगी। आपके अव्यवस्थित जीवन को व्यवस्था सिखा दूँगी, किन्तु मैं देखती हूँ कि मेरे समस्त प्रयास विफल हैं.....आपको इस गंदगी, इस अव्यवस्था में सुख मिलता है। आपको मेरी व्यवस्था, मेरी सफ़ाई बुरी लगती है। मैं आपकी दुनिया में न रहूँगी। मैं आज ही चली जाऊँगी।

(उठ खड़ी होती है—टेलीफ़ोन की घंटी बजती है। वसन्त जल्दी से जाकर चोंगा उठाता है)

वसन्त—हैलो, हैलो, जी, जी !

मधु—(नौकरानी को आवाज देते हुए) मंगला !

मंगला—(स्नानगृह की ओर के दरवाजे से आती है) जी बीबी जी !

मधु—मेरा बिस्तर तैयार कर और मेरा ट्रंक इस कमरे में ले आ।

मंगला—बीबी जी आप......

मधु—मैं जो कहती हूँ उठा ला।

(मंगला चली जाती है। वसन्त "जी, जी बहुत अच्छा !" कहते हुए चोंगा रख देता है और हँसता हुआ आता है)

वसन्त—मैं कहता हूँ तुम अपना सामान बाँधने की सोच रही हो, पहले मेरा सामान तो ठीक कर दो। मुझे पहली गाड़ी से बनारस जाना है। अभी साहब ने आदेश दिया है। अपना सामान बाद में बाँधना। (हँसता है)

(पर्दा गिरता है)

कुछ क्षण बाद पर्दा फिर उठता है। कमरा वही है। सामान भी वही है। सिर्फ इतना अन्तर है कि जहाँ मेज़ थी, वहाँ एक पलँग बिछा है। और टेलीफ़ोन उसके सिरहाने एक तिपाई पर रखा है। मेज, ड्रेसिंग टेबुल की जगह चली गई है और शृंगार की मेज़, अपनी कुर्सी के साथ दायें कोने को सरक गई है।

पलंग पर मधु लिहाफ़ घुटनों पर लिये दीवार के सहारे अन्य-मनस्क सी आधी लेटी है।

कुछ क्षण बाद वह कैलेंडर की ओर देखती है। उसकी दृष्टि का अनुसरण करते ही मालूम होता है कि जनवरी का महीना है और

नया साल चढ़ गया है। जिसका मतलब यह है कि मधु को हम दो महीने बाद देख रहे हैं।

बाहर का दरवाजा खुला है और तीखी हवा अन्दर आ रही है। लिहाफ को कंधों तक खींचते हुए मधु नौकरानी को आवाज़ देती है।—"मंगला, मंगला!"

लेकिन आवाज इतनी हलकी है कि शायद मंगला तक नहीं जाती। मधु रजाई लेकर लेट-सी जाती है। कुछ क्षण बाद मंगला स्वयं ही आती है)

मंगला—बीबी जी, आप उदास क्यों हैं?

मधु—(लेटे लेटे ज़रा सिर झुकाकर) मंगला यह किवाड़ बन्द कर दो, बर्फ सी हवा अन्दर आ रही है।

मंगला—(किवाड़ बन्द करते हुए) मेरी बात का उत्तर नहीं दिया आपने बीबी जी।

मधु—यों ही कुछ तबीअत उदास है मंगला!

मंगला—कोई पत्र आया बाबू जी का?

मधु—आया था। शायद आज-कल में आ जायें।

मंगला—तो फिर.....

मधु—(विषाद से हँसकर) तबीअत कुछ भारी-भारी सी है। शायद सर्दी के कारण.....

(दरवाज़े पर दस्तक होती है)

मधु—(ज़रा उठकर) कौन?

सुरो—(बाहर से) दरवाजा तो खोलो।

मधु—(बैठकर) मंगला, ज़रा किवाड़ खोलना।

(मंगला दरवाज़ा खोलती है, सुरो और चिन्ती आती हैं)

मधु—(रज़ाई परे करके) अरे सुरो, चिन्ती, तुम यहाँ कैसे ?

सुरो—आज ही सवेरे यहाँ उतरी हैं।

चिन्ती—माता जी प्रयाग जा रही थीं। सरिता बहन का खयाल था कि दिल्ली भी देखते चलें।

मधु—ठहरी कहाँ हो ?

चिन्ती—कनाट प्लेस में मलिक चचा जी के यहाँ। देर से उनका अनुरोध था कि दिल्ली आयें तो......

मधु—और मुझे पत्र तक नहीं लिखा। इतने दिनों से मैं कह रही थी दिल्ली आओ तो......

सुरो—सबसे पहले तुम्हीं से मिलने आई हैं। माता जी कहती थीं कुतुबमीनार......

चिन्ती—मैंने कहा कुतुबमीनार एक तरफ और मधु बहन एक तरफ......

(मधु कहकहा लगाती है)

सुरो—और फिर दो घंटे से मारी-मारी फिर रही हैं तुम्हारी तलाश में।

मधु—लेकिन पता तो मेरा...

चिन्ती—सुरो बहन भूल गई। इन्होंने ताँगे वाले को भैरों के मन्दिर चलने के लिए कह दिया।

मधु—(आश्चर्य से) भैरों के मन्दिर......

चिन्ती—और ताँगे वाला ले गया सब्जी मण्डी, कहीं तीस

हज़ारी के गिर्जे के पास।

मधु—गिर्जे के पास.....(ज़ोर से कहकहा लगाती है)

चिन्ती—(अपनी बात जारी रखते हुए) तब इन्हें खयाल आया कि मन्दिर तो हनुमान का है। फिर नई दिल्ली वापस आईं।

(मधु फिर ज़ोर से हँसती है)

सुरो—और तब पता चला कि हम लोग तो यों ही परेशान होते रहे। घर तो तुम्हारा पास ही था।

मधु—तुम लोग भी, मैं कहती हूँ.....

(ज़ोर से हँस पड़ती है)

सुरो—यह इतना हँसना तुम कहाँ से सीख गईं। तुम तो थीं जन्म की सिड़ी.....

चिन्ती—भाई साहब ने सिखा दिया इतने ज़ोर के कहकहे लगाना? कहाँ हैं वे?

मधु—बनारस गये हैं, दो महीने से। वहाँ के फ़र्म का मैनेजर बीमार पड़ गया था। शायद आज-कल में आ जायँ।

चिन्ती—अच्छे तो हैं?

मधु—अच्छे हैं। मौज में हैं। लेकिन तुम खड़ी क्यों हो? इधर आ जाओ बिस्तर पर। (नौकरानी को आवाज़ देती है) मंगला, मंगला!

(सुरो और चिन्ती कुर्सियों पर बैठने लगती हैं)

मधु—अरे कुर्सियाँ छोड़ो। बस चली आओ इधर। पलँग पर बैठते हैं लिहाफ़ लेकर...

सुरो—लेकिन मेरे पाँव (हँसकर) और मैं धो नहीं सकती इन्हें।

मधु—अरे क्या हुआ है तुम्हारे पाँवों को। जुराबें तो पहन रखी हैं तुमने ?

चिन्ती—पर तुम्हारा बिस्तर ?

मधु—कुछ नहीं होता बिस्तर को। मेरे बिस्तर का खयाल छोड़ो। बस चली आओ इधर। यह किवाड़ बन्द कर दो। बर्फ़ सी हवा अन्दर आ रही है।

(मंगला आती है)

मंगला—आपने आवाज़ दी थी बीबी जी।

मधु—मंगला चाय, बनाकर लाओ!

(चिन्ती किवाड़ बन्द कर देती है। तीनों घुटनों पर लिहाफ़ लेकर आराम से बिस्तर पर बैठ जाती हैं।)

सुरो—पुष्पा की शादी हो रही है, अगले महीने।

मधु—(चौंककर खुशी से) लेफ़्टिनेंट वीरेन्द्र के साथ ?

चिन्ती—(हँसकर) सब तुम्हारे जैसी नहीं। वह प्रेम करती रहेगी वीरेन्द्र से जीवन भर, पर शादी तो उसकी प्रोफेसर मुंशी-राम ही के साथ होगी।

मधु—पर मुंशीराम......

सुरो—खड़े का खालसा है भई। लेफ़्टिनेंट साहब तो आते हैं कभी-कभी वर्ष में एक-दो बार और प्रोफ़ेसर साहब सिर पर सवार रहते हैं आठों पहर बुरे साये की तरह।

चिन्ती—वह लम्म सलम्मा लमढींग सा आदमी। ज़ोर की

हवा चले तो उड़ता चला जाये। मैं तो सोचती हूँ कि उसे पुष्पा जैसे मोटी मुटल्लो से प्रेम भी हुआ तो कैसे ?

मधु—और मैं इस बात पर हैरान हूँ कि उसे पुष्पा पसन्द ही कैसे करती है। मैं तो उसे पाँच मिनट के लिए भी सहन न कर सकूँ। चेहरे पर तो उसके नहूसत बरसती रहती है और मालूम होता है जैसे.....

चिन्ती—वर्षों स्नानगृह का मुँह न देखा हो।

सुरो—सहन तो उसे करना ही पड़ता है। उसके पिता प्रोफ़ेसर मुंशीराम पर बड़े प्रसन्न हैं। उन्होंने प्रोफ़ेसर साहब को पढ़ाया-लिखाया और अपने कालेज में लगाया। वीरेन्द्र तो चार वर्ष बी० ए० में रहे और प्रोफ़ेसर मुंशीराम ने रिकार्ड तोड़ा था।

चिन्ती—अब दोनों मिलकर बच्चे पैदा करने का रिकार्ड तोड़ेंगे। (सब हँसती हैं। मंगला चाय की ट्रे लाती है)

मंगला—कहाँ लगाऊँ चाय बीबी जी।

मधु—वहाँ मेज पर रख दो और एक-एक प्याला बनाकर हमें दो। यह तिपाई सरका कर इस पर बिस्कुट रख दो।

सुरो—(आश्चर्य से) मधु !

मधु—अरे उठकर कहाँ जाओगी। यहीं बैठी रहो। इस गर्म बिस्तर से उठकर डाइनिंग टेबुल पर जाने में आ चुका चाय का मजा.....

चिन्ती—(उठने का प्रयास करते हुए हलके से क्रोध से) मधु...

मधु—हटाओ भी। अब बैठो रहो यहीं।

चिन्ती—(व्यंग्य से) तो विवाह के बाद रानी मधुमालती ने अपने सब सिद्धान्त बदल डाले हैं। अब डाइनिंग टेबुल के बदले बिस्तर पर ही चाय पीती हैं और बिस्तर पर ही खाना भी नोश फरमाती हैं।

सुरो—कहाँ तो यह कि पानी का गिलास भी पीना हो तो डाइनिंग रूम की ओर भागतीं और कहाँ यह कि...

मधु—अरे क्या रक्खा है इस तकल्लुफ़ में। सच कहो, इस समय किसका जी चाहता है कि इस नर्म गर्म बिस्तर से उठकर डाइनिंग टेबल पर जाये। लो बिस्कुट और चाय का प्याला उठाओ! ठंडी हो रही है।

(सब चाय के प्याले उठा लेती हैं और चाय पीते पीते बातें करती हैं।)

सुरो—मैं पूछती हूँ—अगर चाय बिस्तर पर गिर जाये ?

मधु—तो क्या हुआ। चादर धुलवाई जा सकती है। और फिर किसी दिन सहसा पेश आने वाली दुर्घटना के भय से कोई अपने रोज़ के सुख आराम को तो नहीं छोड़ देता।

सुरो—सुख आराम! (व्यंग से हँसती है) तुम बिस्तर पर चाय पीने को बहुत बड़ा सुख समझती हो.....(फिर हँसती है)

चिन्ती—और फिर सभ्यता, संस्कृति...

मधु—मानव की आधारभूत भावनाओं पर नित्य नये दिन चढ़ते चले जाने वाले पर्दों का नाम ही तो संस्कृति है। सोसाइटी के एक वर्ग के लिए दूसरा वर्ग सदैव असभ्य और असंस्कृत रहेगा। फिर कहाँ तक आदमी सभ्यता और संस्कृति के पीछे भागे।

सुरो—यह तुम क्या कह रही हो ? क्या तुम चाहती हो कि इतना कुछ सीख-समझकर मनुष्य फिर पहले की भाँति बर्बर बन जाये ?

मधु—नहीं बर्बर बनने की क्या जरूरत है ? मनुष्य सीमाओं को छूता हुआ क्यों चले। मध्य का मार्ग क्यों न अपनाये। न इतना खुले कि बर्बर दिखाई दे न इतना बँधे कि सनकी। महात्मा बुद्ध ने कहा था...

सुरो—(हँसकर) महात्मा बुद्ध ! तुम्हें हो क्या गया है; सदियों पुराने गले-सड़े विचारों को तुम आज की सभ्यता पर लादना चाहती हो !

चिन्ती—मनुष्य हर घड़ी, हर पल, प्रगति के पथ पर अग्रसर है। आज के सिद्धान्त कल काम न देंगे और कल के परसों। बर्नार्ड शा......

मधु—(व्यंग से हँसकर) बर्नार्ड शा—हटाओ, क्या बेमजा बहस ले बैठी हो। मंगला, चाय का एक-एक कप और बनाओ।

चिन्ती—बस भई अब तो हम चलेंगे। इतनी देर हो गई हमें यहाँ आये। मंगला हाथ धुला दो हमारे।

मधु—अरे भई एक-एक प्याला तो और लो।

सुरो—नहीं मधु अब चलेंगे। वहाँ सब लोग परेशान हो रहे होंगे। हमने कहा था, हम केवल मधु का घर देखने जा रहे हैं। एक-आध घंटे में लौट आयेंगे और यहाँ आते ही आते दो घंटे लग गये।

चिन्ती—स्नानगृह किधर है। हम वहीं हाथ धो आते हैं।

मधु—अरे क्या धोओगी इस सर्दी में हाथ ?

सुरो—नहीं भई, हाथ तो हम ज़रूर धोयेंगे। चिप चिप कर रहे हैं।

मधु—तो मरो ! (मंगला से) मङ्गला, इनके हाथ धुलवा दो।

सुरो—बाथ रूम.....

मधु—अरे बाथ रूम में जाकर क्या करोगी ? इधर बरामदे ही में धो लो।

(किवाड़ खोलकर सुरो और चिन्ती हाथ धोती हैं। मधु चुपचाप अपने प्याले की शेष चाय पीती है।)

सुरो—(गीले हाथ लिये वापस आकर) तौलिया कहाँ है ?

मधु—तौलिया नहीं दे गई मङ्गला ? अच्छा वह ले लो जो खूँटी पर टँगा है ?

सुरो—(क्रोध से) मधु तुम भली-भाँति जानती हो...

मधु—मङ्गला, इन्हें अन्दर से एक धुला हुआ तौलिया ला दो।

(चिन्ती भी गीले हाथ लिये आ जाती है। मंगला तौलिया ले आती है और दोनों हाथ पोंछती हैं।)

मधु—मैं कहती थी, अभी कुछ देर बैठतीं !

चिन्ती – नहीं भई, अब कल आने का प्रयास करूँगी।

(हाथ पोंछकर तौलिया कुर्सी की पीठ पर रख देती हैं)

मधु—प्रयास नहीं। जरूर आना। भूलना नहीं। और खाना भी यहीं खाना।)

सुरो—हाँ, हाँ, अवश्य आयेंगी।

(मधु उठने का प्रयास करती है)

सुरो—अब उठने का तकल्लुफ़ न करो। बैठी रहो अपने गर्म लिहाफ़ में। दरवाजा हम बन्द किये जाते हैं। बर्फ़-सी हवा अन्दर आ रही है।

(हँसती हुई चली जाती हैं, दरवाजा बन्द किये जाती हैं)

मधु—मुझे एक प्याला और बना दो मंगला।

मंगला—(प्याला बनाकर देते हुए) ये कौन थीं बीबी जी?

मधु—मेरी सहेलियाँ थीं। कालेज में हम साथ-साथ पढ़ते थे और होस्टल में भी साथ साथ ही रहते थे।

(कुछ क्षण मधु चुपचाप चाय पीती है, फिर)

मधु—मंगला!

मंगला—जी बीबी जी।

मधु—मंगला, जरा मेरी ओर देखकर बता तो मंगला, क्या मैं सचमुच बदल गई हूँ?

मंगला—(चुप रहती है)

मधु—(जैसे अपने आप से) मेरी सहेलियाँ कहती हैं, मैं बदल गई हूँ। पड़ोसिनें भी यही कहती हैं। मेरी ओर जरा देख कर बता तो मंगला, क्या मैं वास्तव में बदल सकी हूँ?

मङ्गला—मैं तो आठों पहर आपके पास रहती हूँ बीबी जी, मैं क्या जानूँ?

मधु—(अपनी बात जारी रखते हुए) मेरी आँखों में देखकर बता मङ्गला, क्या ये बदल सकी हैं। इनमें घृणा की झलक तो नहीं?

मंगला—(आश्चर्य से) घृणा...

मधु—मेरे व्यवहार में तकल्लुफ और बनावट तो नहीं ?

मंगला—(उसी आश्चर्य से) बनावट, तकल्लुफ...

मधु—तकल्लुफ, बनावट, नफरत—तीनों को मैं अपने दिल से निकाल देना चाहती हूँ (जैसे अपने आप से) दो महीने पहले, वे इसी बात पर मुझसे लड़ कर चले गये थे।

मंगला—क्या कह रही हैं बीबी जी आप। बाबू जी तो...

मधु—(शून्य में देखते हुए) उनका क्रोध अभी तक नहीं उतरा। इन दो महीनों में उन्होंने मुझे एक पत्र भी नहीं लिखा।

मंगला—एक पत्र भी नहीं लिखा, लेकिन...

मधु—(व्यंग से) "मैं कुशल से हूँ, अपनी कुशलता का पता देना!" या "मैनेजर बीमार है ज्यों ही स्वस्थ हुआ चला आऊँगा।" इन्हें तुम पत्र लिखना कहती होगी। वे मुझसे नाराज़ हैं। उनका खयाल है कि मैं उनसे घृणा करती हूँ।

मंगला—(कुछ भी समझने में असफल होते हुए)—घृणा, घृणा !

मधु—यदि मैं बचपन ही से ऐसे वातावरण में पली हूँ जहाँ सफ़ाई और सलीके का बेहद खयाल रखा जाता है तो इसमें मेरा क्या दोष है ! (लगभग भरे हुए गले से) वे सफाई और व्यवस्था की मेरी इच्छा को घृणा बताते हैं। मैं बहुतेरा यत्न करती हूँ कि इस सब सफाई-वफाई को छोड़ दूँ, इन तकल्लुफ़ात को तिलांजलि दे दूँ। अपने इस प्रयास में कभी-कभी मुझे अपने आप से घृणा होने लगती है। (लंबी साँस भर कर) बचपन से

जो संस्कार मैंने पाये हैं उनसे मुक्ति पाना मेरे लिए उतना आसान नहीं। (अचानक दृढ़ता से) पर नहीं ; मैं इन सब वहमों को छोड़ दूँगी। पुरानी आदतों से छुटकारा पा लूँगी। वे समझते हैं, मैं उनसे नफ़रत करती हूँ।

मङ्गला—आप क्या कह रही हैं बीबी जी।

मधु—वे समझते हैं—मैं उनसे, उनके स्वभाव से, उनके वातावरण से, उनकी हर एक बात से घृणा करती हूँ। (सिसकने लगती है) मैंने इन दो महीनों में अपने आपको बदल डाला है। अपने आपको बिलकुल बदल डाला है।

(दरवाजा अचानक खुलता है और वसन्त प्रवेश करता है)

वसन्त—हेल-लो मधु—क्या हाल-चाल हैं जनाब के? (मंगला से) मङ्गला ताँगे से समान उतरवाओ। और (जेब से पैसे निकालते हुए) और यह लो डेढ़ रुपया। ताँगेवाले को दे दो।

(मंगला पैसे लेकर चली जाती है)

वसन्त—(फिर मधु के पास आते हुए) कहो भाई क्या हाल-चाल हैं? यह, यह सूरत कैसी रोनी बना रखी है। जी कुछ खराब है क्या?

मधु—(जो इस बीच में पलँग से उतर आई है—हँसने का प्रयास करते हुए) सूखा जाड़ा पड़ रहा है। जुकाम है मुझे तीन-चार दिन से।

वसन्त—मैंने तुम्हें कितनी बार कहा है कि अपने स्वास्थ्य का ध्यान रखा करो। सेहत—सेहत—सेहत—दुनिया में जो कुछ है सेहत है। जीवन में तुम्हारी यह सफ़ाई और सुघड़ता, ये

नजाकतें इतना काम न देंगी, जितना सेहत। यदि यही ठीक नहीं रहती तो ये सब किस काम की. और अगर ठीक है तो फिर इनकी कोई जरूरत नहीं। (अपने कथन की बारीकी का स्वयं ही आनन्द लेता है और फिर जैसे उसने पहली बार कमरे को अच्छी तरह देखा हो) अरे यह कायापलट कैसी ? यह पलँग ड्राइङ्गरूम में कैसे आ गया। और यह ट्रे और प्याले......।

मधु—मैंने पलँग इधर ही बिछा दिया है कि आप और आपके मित्रों को जरा भी कष्ट न हो। मजे से लिहाफ़ लेकर बैठिए। टेलीफ़ोन आपके सिरहाने रहेगा।

वसन्त—(उल्लास से) वाह ! मैं कहता हूँ तुम...तो, तुम...तो...बेहद अच्छी हो।

मधु—मैं स्वयं अपनी सहेलियों के साथ इसी लिहाफ में बैठी रही हूँ।

वसन्त—(आश्चर्य-मिश्रित उल्लास से) सच !

मधु—(उसकी ओर प्रशंसा की इच्छुक प्यार भरी दृष्टि से देखते हुए) और चाय भी हमने यहीं पी है।

वसन्त—(प्रसन्नता से) व...ा. .ह। मैं कहता हूँ—अब तुम जीवन का रहस्य समझ पाई हो। जीवन का भेद बाह्य तड़क-भड़क में नहीं, अन्तर की दृढ़ता में है। यदि, यदि हमारी प्रति-रोध-शक्ति, हमारी Power of Resistence कायम है.....

मधु—चाय भी अब आप यहीं पिया कीजिएगा, अपने नर्म गर्म बिस्तर पर।

वसन्त—(अत्यधिक उल्लास से) वाह वा वाह ! अब

इसी बात पर तुम मंगला से कहो, मेरे लिए चाय का पानी रखे।

मधु—अब तो आप नाराज नहीं हैं ?

वसन्त—(आश्चर्य से) नाराज़ !

मधु—आप इतने दिनों तक मन में गुस्सा रख सकते हैं, यह मैंने स्वप्न में भी न सोचा था।

वसन्त—(और भी आश्चर्य से) गुस्सा !

मधु—दो महीने से आपने ढंग से पत्र तक नहीं लिखा।

वसन्त—पर मैंने......

मधु—पत्र लिखे थे। जी। "मैं कुशल से हूँ, अपनी कुशल का पता देना"—इसे पत्र लिखना कहते होंगे।

वसन्त—(जोर से कहकहा लगाता है) तो तुम इसका कारण यह समझती हो कि मैं तुमसे नाराज हूँ ? पगली ! तुमसे भी कभी कोई नाराज हो सकता है।

मधु—पर दो पंक्तियाँ......।

वसन्त—दो पंक्तियाँ लिखने का भी अवकाश मिल गया तुम इसी को बहुत समझो।

मधु—अच्छा आप जाकर हाथ-मुँह धो लीजिए। मैं चाय तैयार करती हूँ।

वसन्त—मैं कहता हूँ, तुम कितनी...तुम कितनी..तुम कितनी अच्छी हो।

मधु—(मुसकराते हुए) अच्छा-अच्छा चलिए, पहले हाथ-मुँह धोकर कपड़े बदलिए

वसन्त—यह फिर तुमने कपड़े बदलने की पख लगाई ?

मधु—क्यों कपड़े न बदलिएगा ? एक रात और एक दिन गाड़ी में सफर करके आये हैं। मार्ग की धूल सारे शरीर पर पड़ी हुई है। चलिए, चलिए, जल्दी हाथ-मुँह धोकर कपड़े बदलिए। मैं इतने में चाय तैयार करती हूँ। (वसन्त को स्नानगृह के दरवाजे की ओर धकेल देती है, और नौकरानी को आवाज देती है) मंगला, मंगला।

मंगला—(दूसरे कमरे के दरवाजे से झाँकती है) जी बीबी जी !

मधु—सामान रखवा लिया या नहीं ?

मङ्गला—जी बीबी जी !

मधु—यह ट्रे और प्यालियाँ उठा। पानी तो चाय का ठंडा हो गया होगा। बाबू जी उधर हाथ-मुँह धोने गये हैं। मैं और पानी रखती हूँ। इतने में यह पानी फेंककर चायदानी और प्यालियाँ अच्छी तरह धो डाल।

(मंगला ट्रे आदि उठाकर जाती है। एक चमचा गिर जाता है)

मधु—(कुछ तीखे स्वर में) यह चमचा फिर फ़र्श पर गिरा दिया तूने। बीस बार कहा है कि चमचा न गिराया कर फ़र्श पर, चिप-चिप होने लगती है। अब ट्रे बाहर रखकर, इस जगह को गीले कपड़े से पोंछ डाल।

वसन्त—(स्नान-गृह से) अरे भई, साबुन कहाँ है ?

मधु—ध्यान से देखिये। वहीं तख़्ते पर पड़ा है।

वसन्त—(वहीं से) और तौलिया ?

मधु—हाथ मुँह धो आइए और इधर कमरे से सूखा नया तौलिया लेकर पोंछ लीजिए।

(मंगला कपड़े का टुकड़ा भिगोकर लाती है और
चुपचाप फ़र्श साफ़ करने लगती है।)

मधु—तू फ़र्श साफ़ करके चायदानी और प्यालियाँ धो डाल और मैं पानी रखती हूँ चाय का।

(रसोई दरवाजे से चली जाती है। कुछ क्षण तक मंगला चुपचाप फ़र्श साफ किये जाती है। फिर वसन्त हाथ-मुँह धोकर कुर्ते की आस्तीनें चढ़ाये, गुनगुनाता हुआ आता है—

हिंडोला कैसे झूलूँ, मेरा जिया डोले रे।
मैं झूला कैसे झूलूँ मेरा जिया डोले रे।

और अपने ध्यान में मग्न कुर्सी की पीठ पर पड़े हुए उस तौलिये से मुँह पोंछने लगता है, जिस से सुरो और चिन्ती हाथ-मुँह पोंछकर गई हैं।)

मधु—(रसोई खाने से) यह केतली कैसी बना रखी है मङ्गला तूने ? मनों तो मैल जमी हुई है पेंदे में। (केतली हाथ में लिये आ जाती है) तुझे कभी बर्तन न साफ़ करने आयेंगे मङ्गला। कितनी बार कहा है कि सफाई का...(अचानक वसन्त को सुरो वाले तौलिये से मुँह पोंछते हुए देखकर लगभग चीखते हुए) यह सूखा नया तौलिया लिया है आपने ? मैं पूछती हूँ आप सूखे और गीले तौलिये में भी तमीज नहीं कर सकते! अभी तो सुरो और चिंती चाय पी कर इस तौलिये से हाथ पोंछ कर गई हैं।

वसन्त—(घबराकर) परन्तु नया...

मधु—नया तौलिया उधर कमरे में टँगा है।

वसन्त—ओह ये कम्बख्त तौलिये! मुझे ध्यान ही नहीं रहता। वास्तव में दोनों तौलिये साफ हैं, मुझे..

मधु—जी साफ हैं। जरा आँख खोल कर देखिए? गीले और सूखे...

वसन्त—मैंने ऐनक उतार रखी है और ऐनक के बिना तुम जानती हो हमारी दुनिया...

(खिसियानी हँसी हँसता है)

मधु—जी आपकी दुनिया। जाने आप किस दुनिया में रहते हैं। अब तो ऐनक नहीं, ऐनक हो तो कौनसा आपको कुछ दिखाई देता है।

(मुँह फुलाकर धम से कौच में धँस जाती है)

वसन्त—यह तुमने फिर मुँह लटका लिया। नाराज़ हो गई हो क्या?

मधु—(व्यंग से हँस कर) नहीं, मैं नाराज़ नहीं।

वसन्त—(चिल्लाकर) तुम्हारा खयाल है मैं इतना मूर्ख हूँ जो यह भी नहीं पहचान सकता।

(पर्दा सहसा गिर जाता है)

मैत्री

(श्री सेठ गोविन्ददास)

पात्र

निर्म्मलचन्द्र

विनयमोहन

शान्तिप्रकाश

स्थान—एक नगर

उपक्रम

स्थान—निर्म्मलचन्द्र के मकान का बैठकखाना

समय—प्रातःकाल

[बैठकखाने के तीन तरफ की दीवालें दिखती हैं, जो सफेद कलई से पुती हैं। पीछे की दीवाल में तीन खिड़कियाँ है, जो खुली हुई हैं। इनसे बाहर के छोटे से बगीचे का कुछ हिस्सा दिखाई देता है, जो डूबते हुए सूर्य की सुनहरी किरणों से रँग रहा है। दोनों ओर की दीवालों के सिरे पर एक एक दरवाजा है। बाईं तरफ की दीवाल का दरवाजा एक दूसरे कमरे में खुला है, जिससे उसका कुछ भाग दिखाई देता है। इस कमरे में एक पलँग तथा कुछ कुर्सियाँ, कपड़े टाँगने की खूँटियों का स्टैंड आदि रखे हैं, जिससे यह कमरा सोने का कमरा जान पड़ता है। दाहनी तरफ की दीवाल का दरवाजा बाहर के बगीचे में खुला है जिससे बगीचे का कुछ हिस्सा दीख पड़ता

है। बैठकखाने की जमीन पर दरी बिछी हुई है। उसके ऊपर पीछे की दीवाल से सटा हुआ एक तखत रखा है, जिस पर गद्दा बिछा है और उस पर तकिये लगे हैं। बीच में एक गोल टेबिल है, जो टेबिल-क्लाथ से ढकी है। इस टेबिल के चारों ओर बेंत से बुनी हुई कुछ कुर्सियाँ रखी हैं। बैठकखाने की सीलिंग से बिजली की दो बत्तियाँ झूल रही हैं। मकान और मकान की सजावट देखने से जान पड़ता है कि मकान किसी मध्यम श्रेणी के व्यक्ति का है। तखत पर निर्म्मलचन्द्र और विनयमोहन बैठे हुए हैं। दोनों की अवस्था करीब २४, २५ वर्ष की है। रंग दोनों का गेहुआँ है। दोनों के बाल अंग्रेजी ढंग से कटे हैं। निर्म्मलचन्द्र के छोटी छोटी मूछें हैं और विनयमोहन है क्लीनशेव्ड। दोनों सफेद कुरता और धोती पहने हुए हैं।]

निर्म्मलचन्द्र—विनय!

विनयमोहन—निर्म्मल!

निर्म्मलचन्द्र—क्यों, विनय, अब तक की अपनी जिन्दगी के लिए तो हम दोनों अंग्रेजी के इस सेंटेन्स का उपयोग कर सकते हैं न—'आवर लाइफ इज ए रेग्लुयर फीस्ट।'

विनयमोहन—बेशक! और, निर्म्मल, इसका सबब?

निर्म्मलचन्द्र—हमारा साथ।

विनयमोहन—और उसमें निर्म्मल की निर्म्मलता।

निर्म्मलचन्द्र—विनय की विनय नहीं?

विनयमोहन—निर्म्मलता बिना विनय नहीं रह सकती।

निर्म्मलचन्द्र—विनय बिना निर्म्मलता नहीं।

विनयमोहन—(मुसकराकर) निर्म्मल और विनय एक दूसरे

के विना रह ही नहीं सकते।

(दोनों हँस पड़ते हैं)

निर्म्मलचन्द्र—क्यों, विनय, ऐसी मैत्री कहीं देखी?

विनयमोहन—देखी क्या, सुनी भी नहीं!

निर्म्मलचन्द्र—सुनी क्या, कहीं के लिटरेचर तक में नहीं पढ़ी।

विनयमोहन—हम लोगों ने अपनी मैत्री की तारीफ़ कितनी दफा की होगी?

निर्म्मलचन्द्र—हमें इससे जितना आनन्द मिलता है उतना किसी दूसरी बात से मिलता ही नहीं।

विनयमोहन—ग़नीमत यही है कि किसी दूसरे के सामने हम यह नहीं करते।

निर्म्मलचन्द्र—दूसरे कर देते हैं, इसलिए हमें इसकी जरूरत ही नहीं पड़ती।

(दोनों फिर हँस पड़ते हैं)

विनयमोहन—तुम्हें यह चौबीसवाँ साल है न?

निर्म्मलचन्द्र—जो तुम्हें है वही मुझे।

विनयमोहन—और हमारे साथ को हो गये बीस वर्ष।

निर्म्मलचन्द्र—चौबीस हो गये यह भी कह सकते हो।

विनयमोहन—यों तो फिर सैकड़ों, हजारों, लाखों और करोड़ों कहने पड़ेंगे।

निर्म्मलचन्द्र—हाँ, क्योंकि अगणित जन्मों के साथ बिना ऐसी मैत्री कब हो सकती है।

विनयमोहन—जो कुछ हो, जब से होश है, तभी से संग है।

निर्म्मलचन्द्र—और वह ऐसा वैसा नहीं, चौबीसों घंटों का है।

विनयमोहन—निर्म्मल, हमारी बालक्रीड़ा, हमारे स्कूल और कालेज के दिन, आज तक का सारा जीवन हमारी निधि है।

निर्म्मलचन्द्र—मैंने कहा न 'आवर लाइफ इज़ ए रेग्युलर फ़ीस्ट।'

विनयमोहन—और, निर्म्मल, जिन बातों की मुझमें कमी है, वे तुममें हैं और जिनकी तुम में कमी है वे मुझ में हैं।

निर्म्मलचन्द्र—सच तो यह है कि हम दोनों मिलकर एक होता है।

विनयमोहन—अब तक हमारे जीवन का सुख हमारी सफलता, सब कुछ हमारे साथ, हमारी मैत्री के कारण है।

निर्म्मलचन्द्र—और हमारा भविष्य भी इसी पर निर्भर है।

विनयमोहन—हाँ दुनियाँ के संघर्ष में तो अब हमारा प्रवेश होगा।

निर्म्मलचन्द्र—उस संघर्ष में अपने और अपने देश के उत्कर्ष के लिए यही मैत्री, यही साथ, हमारा ध्रुव नक्षत्र होगा।

(दोनों कुछ देर को चुप हो जाते हैं)

निर्म्मलचन्द्र—एक बात जानते हो, विनय ?

विनयमोहन—क्या निर्म्मल ?

निर्म्मलचन्द्र—चीन के महापुरुष कन्फ्यूशियस का एक उपदेश आज तक मेरे सामने रहा है और भविष्य में भी रहेगा।

विनयमोहन—कौन-सा ?

निर्म्मलचन्द्र—'दिन में तीन बार अपने आपको जाँच कर देखो कि तुमने अपने सच्चे मित्र के लिए सचाई और ईमानदारी से सब कुछ किया है या नहीं।'

विनयमोहन—और जानते हो मेरे सामने क्या रहा है और रहेगा?

निर्म्मलचन्द्र—क्या?

विनयमोहन—किसी देश की एक प्रावर्ब।

निर्म्मलचन्द्र—कौन-सी?

विनयमोहन—'जिस प्रकार अग्नि को प्रज्वलित रखने के के लिए ईंधन की जरूरत रहती है उसी तरह मैत्री रूपी अग्नि को जीवित रखने के लिए मित्र के प्रति त्याग रूपी आहुति की।'

निर्म्मलचन्द्र—(विनयमोहन की तरफ एकटक देखते हुए गद्-गद् स्वर से) विनय!

विनयमोहन—(उसी प्रकार एक टक निर्म्मलचन्द्र की ओर देखते हुए) निर्म्मल!

(यवनिका पतन)

मुख्य दृश्य

स्थान—निर्म्मलचन्द्र के मकान का बैठकखाना

समय—सन्ध्या

(दृश्य वैसा ही है जैसा उपक्रम में था। कमरे का सब सामान करीब करीब वैसा ही है। दीवालों पर कांग्रेस नेताओं के चित्र लग गये हैं। निर्म्मलचन्द्र और विनयमोहन तख्त पर बैठे हुए हैं। अन

दोनों खादी के कुरते और धोती पहने हुए हैं। दोनों की अवस्था कुछ बढ़ गई है, जो उनकी बढ़ी हुई मूँछों से मालूम होती है। दोनों के मुख पर अशान्ति दृष्टिगोचर होती है। निर्म्मलचन्द्र खिड़की से बाहर बगीचे की तरफ देख रहा है और विनयमोहन दाहिनी ओर की दीवाल के दरवाजे से बाहर की तरफ। कुछ देर निस्तब्धता रहती है। कुछ देर बाद विनयमोहन खड़े होकर दाहिनी तरफ के दरवाजे की ओर जाता है। निर्म्मलचन्द्र विनयमोहन की तरफ देखता है। विनयमोहन कुछ देर उस दरवाजे पर खड़े होकर बाहर की तरफ देखता है फिर लौटकर अपने स्थान पर बैठ जाता है। निर्म्मलचन्द्र उसके लौटते ही उसकी तरफ से दृष्टि हटा कर फिर खिड़की से बाहर की ओर देखने लगता है।)

निर्म्मलचन्द्र—(बाहर की तरफ देखते हुए) क्यों, विनय, प्रतीक्षा का टाइम निकालने में इतनी मुश्किल पड़ रही है ?

विनयमोहन—(दाहिनी तरफ के दरवाजे की तरफ ही देखते हुए) नहीं, ऐसी तो कोई बात नहीं है।

(दोनों फिर चुप हो जाते हैं। कुछ देर निस्तब्धता रहती है।)

विनयमोहन—(निर्म्मलचन्द्र की ओर दृष्टि घुमाकर) हम लोगों की बातचीत तो कभी खत्म ही न होती थी, आज हो गई क्या ?

निर्म्मलचन्द्र—(विनयमोहन की तरफ देखकर) हमारी बात कभी खत्म हो सकती है ?

विनयमोहन—फिर चुप क्यों हो ?

निर्म्मलचन्द्र—(फिर खिड़की से बगीचे की तरफ देखते हुए) और तुम तो बहुत बोल रहे हो ?

(विनयमोहन कोई उत्तर न देकर फिर दाहिनी तरफ की दीवाल

के दरवाजे से बाहर की ओर देखने लगता है। कुछ देर फिर निस्तब्धता रहती है।)

निर्म्मलचन्द्र—विनय, एक बात पूछूँ ?

विनयमोहन—(निर्म्मलचन्द्र की तरफ देखते हुए) यह पूछने की जरूरत है ?

निर्म्मलचन्द्र—(विनयमोहन की ओर दृष्टि घुमा कर) तुम इतने अधीर क्यों हो ?

विनयमोहन—मैं अधीर हूँ !

निर्म्मलचन्द्र—क्या मैं तुम्हें इतने वर्षों के बाद इतना भी नहीं पहचान पाया हूँ ?

विनयमोहन—और तुम वैसे ही हो, जैसे हमेशा रहते थे ?

निर्म्मलचन्द्र—नहीं, मैं भी वैसा नहीं हूँ, पर तुम-सा अधीर भी नहीं।

विनयमोहन—तो हम दोनों ही जैसे थे वैसे नहीं हैं, यह तो निश्चित हो गया।

निर्म्मलचन्द्र—सच बात को मंजूर करना ही चाहिये।

विनयमोहन—और इसका सबब ?

निर्म्मलचन्द्र—म्युनिसिपैलटी का चुनाव, क्यों ?

(दोनों फिर चुप हो जाते हैं। कुछ देर तक निस्तब्धता रहती है)

निर्म्मलचन्द्र—मानते हो न ?

विनयमोहन—तुमने कहा न, सच बात को मंजूर करना ही चाहिए।

निर्म्मलचन्द्र—धन्यवाद।

विनयमोहन—मुझे धन्यवाद !

निर्म्मलचन्द्र—(कुछ मुसकराकर) अच्छा, भाई, वापस लेता हूँ।

विनयमोहन—(मुसकराकर) धन्यवाद।

निर्म्मलचन्द्र—(मुसकराकर) बदला लेते हो ! (कुछ रुक कर) खैर। (फिर कुछ रुककर) क्यों, विनय, तुम यह जानते हो कि या तो मैं प्रेसीडेंट चुना जाऊँगा या तुम, फिर भी तुम इतने अधीर क्यों हो ?

विनयमोहन—और तुम भी यह बात जानते हो, फिर तुम भी वैसे ही क्यों नहीं हो जैसे हमेशा रहते थे ?

निर्म्मलचन्द्र—मैं ?......मैं......(कुछ रुककर विचार करते हुए) मैं शायद इसलिए वैसा नहीं हूँ कि अगर मैं चुना गया और तुम न चुने गये तो......तो तुम्हें...तुम्हें किसी तरह की... किसी तरह की ठेस .....ठेस तो नहीं पहुँचेगी !

विनयमोहन—तुम्हारे चुने जाने पर मुझे ठेस पहुँचेगी ! निर्म्मल, तुम मेरे साथ अन्याय, घोर अन्याय, कर रहे हो।

निर्म्मलचन्द्र—हो सकता है। अच्छा तुम बताओ कि तुम इतने अधीर क्यों हो ?

विनयमोहन—मैं (कुछ विचार करते हुए) मैं भी शायद इसीलिए इतना अधीर हूँ कि कहीं मैं चुन लिया गया और तुम न चुने गये तो तुम्हारे हृदय पर तो कोई चोट न लगेगी ?

निर्म्मलचन्द्र—तो तुम भी मेरे साथ उसी तरह का अन्याय कर रहे थे जैसा मैं तुम्हारे साथ।

विनयमोहन—तो हम दोनों ने एक दूसरे के साथ अन्याय किया ?

निर्म्मलचन्द्र—घोर अन्याय !

विनयमोहन—इस पाप का प्रायश्चित्त ?

निर्म्मलचन्द्र—प्रायश्चित्त ? (कुछ विचारकर) यही प्रायश्चित है कि जो न चुना जाय वह यह सोचे कि जो चुना गया है, वह नहीं, पर यथार्थ में जो नहीं चुना गया है, वह चुना गया है।

विनयमोहन—(गदगद स्वर से) निर्म्मल, तुमने सच्चा प्रायश्चित्त बताया।

निर्म्मलचन्द्र—विनय, तुम में और मुझ में अभी भी कोई अन्तर रह गया है ?

विनयमोहन—कदापि नहीं।

निर्म्मलचन्द्र—हम दोनों एक प्राण दो देह हैं।

विनयमोहन—अवश्य।

निर्म्मलचन्द्र—ऐसी मैत्री कहीं देखी ?

विनयमोहन—देखी क्या सुनी भी नहीं।

निर्म्मलचन्द्र—सुनी क्या, कहीं के लिटरेचर तक में नहीं पढ़ी।

विनयमोहन—'आवर लाइफ़ इज़ ए रेग्युलर फ़ीस्ट।'

निर्म्मलचन्द्र—आफ़ कोर्स, 'आवर लाइफ़ इज़ ए रेग्युलर फ़ीस्ट।'

विनयमोहन—(एकटक निर्म्मलचन्द्र की ओर देखते हुए गदगद स्वर से) निर्म्मल !

निर्म्मलचन्द्र—(उसी तरह विनयमोहन की तरफ देखते हुए) विनय !

(शान्तिप्रकाश का दाहिनी तरफ़ के दरवाजे से प्रवेश । शान्तिप्रकाश करीब ४० वर्ष का साँवले रंग का कुछ ठिगना और मोटा आदमी है । वह खादी की काले रङ्ग की शेरवानी और खादी का सफेद चूड़ीदार पाजामा पहने है । सिर पर गांधी टोपी और पैरों में फ़ीतेदार शू हैं । उसे देखकर निर्म्मलचन्द्र और विनयमोहन दोनों खड़े हो जाते हैं । दोनों के मुखों पर फिर से अशान्ति दिखाई देने लगती है । दोनों, हाथों से शान्तिप्रकाश का अभिवादन करते हैं । शान्तिप्रकाश भी हाथ जोड़ता है । और तीनों तखत पर बैठते हैं ।)

निर्म्मलचन्द्र—कहिए, पार्टी ने क्या निर्णय किया ?

शान्तिप्रकाश—(मुसकराते हुए) आप दोनों तो चले आये ।

विनयमोहन—हाँ हम लोगों का पर्सनल सवाल था । इसलिए हमने न ठहरना ही मुनासिब समझा ।

शान्तिप्रकाश—ठीक ही था । (कुछ रुककर) आपको पार्टी का निर्णय सुनकर शायद ताज्जुब होगा ।

निर्म्मलचन्द्र }
विनयमोहन } —(एक साथ ही अधीरता से)—कैसा ?

शान्तिप्रकाश—(मुसकराकर) पार्टी ने निश्चय किया है चूँकि आप दोनों की सेवायें एक सी हैं, इसलिए पार्टी आप दोनों को समान दृष्टि से देखती है, और दोनों में से प्रेसीडेंट कौन हो, इसका निर्णय आप दोनों पर ही छोड़ती है ।

निर्म्मलचन्द्र
विनयमोहन } —(एक साथ ही) यह कैसे हो सकता है ?

शान्तिप्रकाश—क्यों, आप दोनों आपस में तय कर लें और एक नाम पार्टी के पास भेज दें। मैं तो समझता हूँ, बड़ी सरलता से निर्णय हो जायगा। आप दोनों को इसका निपटारा करने में क्या दिक्कत हो सकती है ?

(निर्म्मलचन्द्र और विनयमोहन कुछ न कहकर एक दूसरे की तरफ देखते हैं और शान्तिप्रकाश कभी निर्म्मलचन्द्र की ओर तथा कभी विनयमोहन की तरफ। कुछ देर निस्तब्धता रहती है।)

शान्तिप्रकाश—कल प्रातःकाल नौ बजे फिर पार्टी की मीटिंग है, आपका निर्णय पार्टी के पास उस वक्त तक पहुँच जाना चाहिए।

निर्म्मलचन्द्र—(कुछ विचारते हुए) लेकिन शान्तिप्रकाश जी.....(चुप हो जाता है।)

विनयमोहन—(कुछ विचारते हुए) हाँ, शान्तिप्रकाश जी...(चुप हो जाता है।)

शान्तिप्रकाश—(खड़े होते हुए) मुझे इस वक्त इजाजत दीजिए, जिससे आप दोनों को एकान्त में इस निर्णय करने के लिए समय मिल सके।

(निर्म्मलचन्द्र और विनयमोहन खड़े हो जाते हैं। शान्तिप्रकाश दोनों का अभिवादन कर जाने लगता है। दोनों बिना एक शब्द भी कहे उसे दरवाजे तक पहुँचाते और अभिवादन के साथ रुखसत कर धीरे धीरे वापस आ तखत पर बैठते हैं। दोनों में से एक, एक खिड़की

से और दूसरा दूसरी खिड़की से बगीचे की तरफ़ देखने लगता है। कोई कुछ नहीं बोलता, परन्तु दोनों के मुखों से जान पड़ता है कि उनके हृदयों में तूफ़ान का समुद्र लहरा रहा है। कुछ देर निस्तब्धता रहती है।)

निर्म्मलचन्द्र—विनय !

(विनयमोहन चौंक-सा पड़ता है मानो किसी अपरिचित व्यक्ति ने सोते से जगाया हो।)

विनयमोहन—(भर्राये हुए स्वर में) हाँ, निर्म्मल।

निर्म्मलचन्द्र—अरे तुम तो चौंक पड़े ?

विनयमोहन—(उसी प्रकार के स्वर में) नहीं तो।

(दोनों फिर चुप हो जाते हैं। कुछ देर फिर निस्तब्धता रहती है।)

विनयमोहन—निर्म्मल !

(इस बार निर्म्मलचन्द्र चौंक पड़ता है, मानो उसे किसी ने डरा दिया हो।)

निर्म्मलचन्द्र—(भर्राये हुए स्वर में) हाँ, विनय।

विनयमोहन—इस बार तुम चौंक पड़े, निर्म्मल।

निर्म्मलचन्द्र—(उसी स्वर में) ऐसा ?

विनयमोहन—अवश्य !

(दोनों फिर चुप हो जाते हैं। कुछ देर निस्तब्धता रहती है।)

निर्म्मलचन्द्र—(विनयमोहन की तरफ़ देखकर) देखो।

विनयमोहन—(थोड़ा सा चौंकते हुए, निर्म्मलचन्द्र की ओर देख कर) कहो।

निर्म्मलचन्द्र—(अत्यन्त दबे हुए स्वर से) प्रेसीडेंट होना तुम मंजूर करो।

विनयमोहन—मैं ? क्यों ? तुम क्यों नहीं ?

निर्म्मलचन्द्र—और मैं क्यों; तुम क्यों नहीं ?

(दोनों फिर चुप रह जाते हैं और खिड़कियों से बाहर की तरफ देखने लगते हैं। फिर कुछ देर निस्तब्धता रहती है।)

विनयमोहन—(निर्म्मलचन्द्र की ओर देखकर) एक बात पूछूँ, निर्म्मल ?

निर्म्मलचन्द्र—यह पूछने की आवश्यकता है ?

विनयमोहन—यह पद तुमने मुझे इतने दबे हुए स्वर से क्यों आफ़र किया ?

निर्म्मलचन्द्र—(विनयमोहन की तरफ दृष्टि घुमाकर अपने स्वाभाविक स्वर में बोलने का प्रयत्न करते हुए) दबे हुए स्वर से ?

विनयमोहन—क्या मैं इतने सालों के बाद तुम्हारा स्वर भी नहीं पहचानता ?

(निर्म्मलचन्द्र कोई उत्तर नहीं देता। कुछ देर निस्तब्धता रहती है।)

विनयमोहन—निर्म्मल, तुम्हें मेरा अधैर्य खला था। जब मैंने तुमसे कहा कि तुम भी वैसे नहीं हो जैसे थे और उसका कारण पूछा, तब तुमने कहा कि तुम शायद इसलिए वैसे नहीं हो कि अगर तुम चुन लिये गये और मैं न चुना गया तो मेरे मन पर ठेस न पहुँचे। क्या मैं पूछूँ कि मुझे प्रेसीडेंटी ऑफ़र करते हुए तुम्हें इतना दुख क्यों हो रहा है ?

निर्म्मलचन्द्र—तुम्हें प्रेसीडेंटी ऑफ़र करते हुए मुझे दुख हो रहा है ?

निर्म्मलचन्द्र—(कठोर स्वर से) तुम इस बात से इनकार नहीं कर सकते।

निर्म्मलचन्द्र—(कुछ ठहर कर घृणा भरे स्वर से) तो क्या मैं भी पूछूँ कि पार्टी ने किसे प्रेसीडेंट चुना, और तुम्हें चुना या नहीं, यह जानने के लिए तुम इतने अधीर क्यों थे ?

विनयमोहन—(दृढ़ता से) मैं क्यों अधीर था और क्यों नहीं, इसका फैसला हो चुका है, लेकिन तुम्हारे प्रस्ताव में क्यों दुख था, इसका निर्णय होना बाकी है।

(निर्म्मलचन्द्र कोई उत्तर नहीं देता और खिड़की से बाहर की तरफ देखने लगता है। विनयमोहन निर्म्मलचन्द्र की ओर देखता है। कुछ देर निस्तब्धता रहती है।)

निर्म्मलचन्द्र—(विनयमोहन की तरफ देखते हुए) मेरे ऑफर में क्यों दुख था, यह जानना चाहते हो ?

विनयमोहन—अवश्य।

निर्म्मलचन्द्र—(दृढ़ता से) इसलिए कि मेरे प्रेसीडेंट होने से तुम्हें दुःख होता, इसलिए कि तुम प्रेसीडेंट होने के लिए प्राण दे रहे हो।

विनयमोहन—(क्रोध से) इसलिए नहीं, इसलिए कि मैं अगर प्रेसीडेंट हो गया तो तुम न हो पाओगे।

निर्म्मलचन्द्र—(अत्यन्त क्रोध से) विनय !

विनयमोहन—(और भी अधिक क्रोध से) निर्म्मल !

(दोनों एक साथ लम्बी साँस लेकर खिड़कियों से बाहर देखने लगते हैं। कुछ देर फिर निस्तब्धता रहती है।)

निर्म्मलचन्द्र—(बाहर की तरफ ही देखते हुए) एक बात जानते हो ?

विनयमोहन—क्या ?

निर्म्मल—(अत्यन्त घृणा से) तुम में इतने दोष हैं कि तुमसे प्रेसीडेंटी एक दिन न चलेगी।

विनयमोहन—(और भी अधिक घृणा से) और तुम्हारे दोषों को तो गिनती ही नहीं है। तुमसे तो वह एक क्षण नहीं चल सकती।

निर्म्मलचन्द्र—(अत्यन्त क्रोध से चिल्लाकर) बस, विनय, बहुत हुआ।

विनयमोहन—(और भी ज्यादा क्रोध से गरजकर) मैंने भी बहुत बर्दाश्त कर ली।

(दोनों फिर चुप हो जाते हैं और लंबी साँसें लेने लगते हैं।)

विनयमोहन—(एकाएक खड़े होकर) अपने रूम के अंदर आपने मेरा काफी अपमान किया है। मैं अब आपसे इजाजत चाहता हूँ।

(निर्म्मलचन्द्र कोई उत्तर नहीं देता और विनयमोहन जल्दी दाहिनी तरफ के दरवाजे से चला जाता है।)

(यवनिका पतन)

उपसंहार

स्थान—निर्म्मलचन्द्र के मकान का बैठकखाना

समय—प्रातःकाल

(दृश्य वैसा ही है जैसा मुख्य दृश्य में था। निर्म्मलचन्द्र अकेला तख्त पर बैठा हुआ गौर से एक चिट्ठी पढ़ रहा है। विनय-मोहन का एक चिट्ठी हाथ में लिये हुए प्रवेश।)

विनयमोहन—निर्म्मल, मैं तुमसे क्षमा माँगने आया हूँ।

निर्म्मलचन्द्र—(खड़े होकर) और मैं तुमसे माफी माँगने आ रहा था, विनय।

(दोनों तखत पर बैठ जाते हैं)

विनयमोहन—(अपने हाथ की चिट्ठी निर्म्मलचन्द्र को देते हुए) इस चिट्ठी को पढ़ोगे ?

निर्म्मलचन्द्र—(अपने हाथ की चिट्ठी विनयमोहन को देते हुए) और तुम इस चिट्ठी को देखोगे ?

(विनयमोहन निर्म्मलचन्द्र की चिट्ठी ले लेता है और निर्म्मलचन्द्र विनयमोहन की। दोनों चिट्ठियों को पढ़ते हैं। चिट्ठियों को पढ़ने के बाद एक साथ)

निर्म्मलचन्द्र—विनय !

विनयमोहन—निर्म्मल।

निर्म्मलचन्द्र—विनय, भगवान को साक्षी देकर कहता हूँ कि मैं प्रेसीडेंट नहीं होना चाहता, और जैसा मैंने पार्टी को अपनी चिट्ठी में लिखा है, मैं हृदय से चहता हूँ कि यह पद तुम्हें मिले।

विनयमोहन—और, निर्म्मल, मैं भी भगवान को साक्षी देकर कहता हूँ कि मैं प्रेसीडेंट नहीं होना चाहता, और जैसा मैंने पार्टी को अपने पत्र में लिखा है, मैं अन्तःकरण से चाहता हूँ कि यह पद तुम सुशोभित करो।

निर्म्मलचन्द्र—ऐसा कभी नहीं हो सकता।

विनयमोहन—तो जो तुम चाहते हो वह भी कभी नहीं हो सकता।

निर्म्मलचन्द्र—मेरा कहना नहीं मानोगे ?

विनयमोहन—और तुम मेरा कहना न मानोगे ?

निर्म्मलचन्द्र—जिद न करो।

विनयमोहन—तुम भी हठ न करो।

निर्म्मलचन्द्र—विनय।

विनयमोहन—निर्म्मल !

(दोनों चुप होकर एक दूसरे को देखते हैं)

निर्म्मलचन्द्र }
विनयमोहन } —(एक साथ) तब ?

(कुछ देर फिर दोनों चुप रहते हैं)

निर्म्मलचन्द्र }
विनयमोहन } —(एक साथ) तुम्हें मंजूर करना ही होगा।

(कुछ देर फिर दोनों चुप रहते हैं)

निर्म्मलचन्द्र—देखो, विनय, मैं अपने सम्बन्ध को इस प्रेसीडेंटशिप से कहीं बड़ी चीज़ समझता हूँ।

विनयमोहन—और मैं यह प्रेसीडेंटशिप तो दूर रही, भारतीय साम्राज्य की प्रेसीडेंटी, और भारतीय साम्राज्य की प्रेसीडेंटी भी दूर रही अगर सारे संसार का फ़ैडरेशन बने और उसकी प्रेसीडेंटी मिले तो, उससे भी अपनी मैत्री को बड़ी चीज़ समझता हूँ।

निर्म्मलचन्द्र—क्षणिक आवेश की बात दूसरी है, मैं इसे जानता हूँ, विनय।

विनयमोहन—जो तुमने कहा मैं उसे दुहराता हूँ, निर्म्मल।

निर्म्मलचन्द्र—इसीलिए जो कुछ कल हुआ उसे देखते हुए मैं इस पद को कभी मंजूर नहीं कर सकता।

विनयमोहन—तुमने मेरे मुख के शब्द छीन लिये। और मैं कर सकता हूँ ?

(दोनों चुप रहते हैं। कुछ देर निस्तब्धता रहती है)

निर्म्मलचन्द्र—विनय !

विनयमोहन—निर्म्मल !

(फिर दोनों चुप हो जाते हैं)

निर्म्मल—विनय, एक प्राण होते हुए भी हमारी.......हमारी दो देह अवश्य हैं।

विनयमोहन—इसीलिए हम प्रेम का आनन्द भोग सकते हैं।

निर्म्मलचन्द्र—और लोलुपता का दुःख भी।

विनयमोहन—जो पद हमें लोलुपता के नजदीक ले जा सकता है.....

निर्म्मलचन्द्र—जो हम में एक दूसरे से स्पर्द्धा, और स्पर्द्धा ही नहीं, ईर्ष्या की उत्पत्ति कर सकता है...

विनयमोहन—जो हमसे एक दूसरे के सामने झूठ बुलवा सकता है...

निर्म्मलचन्द्र—जो हममें एक दूसरे के लिए क्रोध पैदा करा सकता है...

विनयमोहन—जो हम से एक दूसरे के लिए अपशब्द बुलवा सकता है.....

निर्म्मलचन्द्र—जो हमें एक दूसरे के दोष दिखाकर एक

दूसरे के लिए यह कहला सकता है कि......

विनयमोहन—कि तुमसे प्रेसीडेंटी एक दिन न चलेगी......

निर्म्मलचन्द्र—एक क्षण न चलेगी.......

विनयमोहन—निर्म्मल, हमने एक दूसरे को उसके गुणों की अपेक्षा उसके दोषों के सबब अधिक प्यार किया है......

निर्म्मलचन्द्र—और......और वे ही दोष, जिस पद-लोलुपता के कारण हमें एक दूसरे के प्रति घृणा की ओर अग्रसर कर सकते हैं, उस पद को......

विनयमोहन
निर्म्मलचन्द्र } —(एक साथ) हम दोनों मंजूर नहीं कर सकते।

(दोनों फिर चुप हो जाते हैं)

विनयमोहन—लिखो पार्टी को दूसरी चिट्ठी।

निर्म्मलचन्द्र—संयुक्त, फौरन।

विनयमोहन—हम दोनों साधारण नागरिक रह कर भी अपना, समाज; देश और विश्व का उत्कर्ष कर सकते हैं।

निर्म्मलचन्द्र—और अपने प्रेम के द्वारा विश्व से प्रेम करना सीख उसकी सेवा कर सकते हैं।

विनयमोहन—(गद्‌गद स्वर से निर्म्मलचन्द्र की ओर एक टक देखते हुए) निर्म्मल !

निर्म्मलचन्द्र—(उसी तरह विनयमोहन को देखते हुए उसी स्वर से) विनय !

(यविनका-पतन)

टैगोर-दिवास

(श्री गणेशप्रसाद द्विवेदी)

स्थान—विमेंस होस्टल का एक कमरा

समय—रात्रि ९ बजे

(स्थानीय यूनिवर्सिटी के लड़कियों के बोर्डिंग हाउस का एक कमरा। सामने लंबा कॉरिडर या बरामदा। ऊपर हरे रंग के धुँधली रोशनी वाले बल्ब जल रहे हैं। अभी हाल में निधन होने वाले विश्व-कवि के उपलक्ष्य में विश्व विद्यालय की छात्राओं ने एक शोक-सभा आज अपने हॉस्टल में की थी। नीचे हॉल में अभी अभी सभा विसर्जित हुई है। लड़कियाँ अपने अपने कमरों में लौट रही हैं। तीन-चार पोस्ट ग्रैजुएट क्लासों की लड़कियाँ बातें करतीहुई, इसी बरामदे की ओर आ रही हैं। सभी आधुनिकतम परिपाटी की वेश-भूषा और टायलेट आदि से लकदक हैं। लिपस्टिक, पाउडर, रूज़ की छटा भी है। ऐसा जान पड़ता है कि शोक सभा नहीं बल्कि किसी चाय-पार्टी या सिनेमा से लौट रही हैं। एक के हाथ में बड़े फ्रेम में मढ़ा हुआ टैगोर का एक चित्र भी है। वही इन सब से विशेष आकर्षक और ज़री के काम की भड़कीली क्रेप सिल्क की नई साड़ी पहने हुए है। पर उम्र इन सभों में से शायद ही किसी की २५ से कम हो।

पहली—बाबा रे बाबा! ये लोग जब एक बार बोलना शुरू कर देते हैं तो रुकना मानो जानते ही नहीं। गोया किसी को और कुछ काम ही नहीं।

दूसरी—और क्या; अरे टैगोर को दुनिया में कौन नहीं जानता ! उनके साहित्य से आज कौन पढ़ा-लिखा आदमी अपरिचित है !

तीसरी—उनकी कला और कविता की बात तो सभी जानते हैं, पर प्रोफेसर चौधरी ने 'टैगोर ऐज़ ए रिफ़ार्मर' वाली स्पीच में टैगोर की जीवनी पर एक नये पहलू से विचार किया।

चौथी—नया नहीं, वह पहलू उनका बहुत पुराना है, समाज-सुधारक और देश-भक्त के रूप में टैगोर की देन कुछ कम महत्त्वपूर्ण नहीं है ! पर साहित्य और कला के क्षेत्र में वह इतने महान थे कि उनकी और बातों पर लोगों की निगाह ज़रा कम पड़ा करती थी। पर इसके यह मानी.........

दूसरी—ठीक-ठीक, पर सरोजिनी ने तो और कुछ मानो सुना ही नहीं, सिर्फ़ ध्यान-मग्न हो प्रो० चौधरी की स्पीच सुन रही थी।

सरोजिनी—चलो हटो भी; पर तुम्हीं कहो, उनसे अच्छा और कौन बोला ?

दूसरी—मैंने तो उनकी स्पीच सुनी ही नहीं।

तीसरी—तो क्या कान में उँगली डाले बैठी थी ?

दूसरी—मैं सिर्फ उनको देख रही थी। (सरोजिनी की ओर देखकर म्लान मुसकराहट।)

तीसरी—ठीक ठीक, सरोजिनी भी यही कर रही थी। प्रोफ़ेसर होने से क्या हुआ, अभी हैं तो तरुण ही।

सरोजिनी—चलो हटो, तुम लोग बड़ी शैतान हो; पर क्या

उनकी स्पीच और सभों से अच्छी नहीं थी ?

कई—(एक साथ) बेशक ! बेशक ! (हास्य)

दूसरी—कम से कम प्रोफ़ेसर ओझा से तो लाख दर्जा अच्छी; बोलने क्या खड़े हुए, मानो सूली पर चढ़ने जा रहे हों ! (सब हँस पड़ती हैं)

तीसरी—'आँ...'ऊँ'...करके अटक-अटक कर, एक-एक शब्द मानों खोद-खोद कर निकाल रहे हों।

चौथी—पर सरोजिनी तुम्हारी इस साड़ी का रंग गहरा बहुत है। तुम्हारे लिए जरा और 'सोबर' कलर होना चाहिए। इस ढलती उम्र में...

दूसरी—अरी पागल, हमारी तुम्हारी पसंद से क्या आता जाता है। प्रो० चौधरी को पसन्द आना चाहिए। सो आया ही होगा, तभी तो..

सरोजिनी—(रूठ कर) अच्छा अच्छा, चलो; मैं तो अब सोने जा रही हूँ। (कमरे की ओर बढ़ती हुई सी)

दूसरी—(चुटकी लेती हुई) हम लोगों को भी सोना है। पर हाँ, कमरे में वह बैठे हुए तुम्हारा इन्तजार कर रहे हों, तो दूसरी बात है।

सरोजनी—(गंभीर हो कर) खबरदार ! ये स्कैंडल हैं ! रात में वह कभी नहीं आते।

दूसरी—बाबा मुझे माफ़ करो; दिन में ही सही, पर शायद आज...पर चल तेरे कमरे में चलूँ; वह 'चाइल्ड साइकॉलोजी' वाली किताब जरा लेनी है। पर यह तस्वीर तो सँभाल कर रख

दे पगली, कहीं कोई कील-वील की खोंच इस नई साड़ी में लग गई, तो बस...

सरोजिनी—अरे मुझे अपने कमरे तक पहुँचा तो दे कम से कम; मुझे अकेले इधर से जाने में डर लगता है।

दूसरी—जा न, माया के साथ, डरपोक कहीं की। क्या यहाँ कोई भूत-प्रेत बैठा है।

सरोजिनी—(तेज़ी से) मैं भूत-प्रेत की रत्ती भर परवाह नहीं करती। जाओ तुम लोग, मैं अकेली चली जाऊँगी।

दूसरी—अच्छा, अच्छा, नाराज़ मत हो, चलती हूँ। क्या बताएँ आज डेंटिस्ट के यहाँ भी जाना था, एक दाँत निकलवाया है, उसे 'फ़िल अप' कराना है।

सरोजिनी—अभी से दाँत गिर चले ?

चौथी—किस के नहीं गिरे। यहाँ तो सभी ऐसी हो रही हैं—किसी को इन्सोमनिया, तो किसी को डायरिया, तो किसी को कुछ। तुझे भी तो रोज बेड-पिल खानी पड़ती है।...अरे हाँ, खूब याद आया, चल तुझे पहुँचा ही दूँ, और एक बेड-पिल भी लेती आऊँ।

सरोजिनी—आज एक ही बच रही है, मेरे पास।

चौथी—यह तो बड़ी मुश्किल हुई, अब इस वक्त मँगाना भी मुश्किल ...अच्छा 'एस्प्रो' की टिकियाँ तो होंगी ही। चलें वही ले लें एकाध—कम से कम नींद तो आ ही जायगी।

(तीनों कमरे में जाती हैं। एक कमरा, पलँग, टेबिल, टेबिल-लैंप दो कुरसियाँ, दीवारों पर कुछ तस्वीरें। सरोजिनी टेबिल लैम्प जला

देती है, एक शीशो से 'एस्प्रो' निकाल कर देती है; चौथी का उन्हें लेकर प्रस्थान। माया अभी है। शेष सब का प्रस्थान)

माया—अच्छा वह किताब दे दो भई, हम भी चलें।

सरोजिनी—ठहरो भी, ज़रा खोजनी पड़ेगी, जाने कहाँ रक्खी है। (इधर उधर खोजती है)

माया—अरी पागल, इस तस्वीर को तो टाँग कहीं, आखिर कब तक यों लिये नाचेगी। भले आदमी ने कितने चाव से प्रेज़ेंट की है, कहीं गिर-गिरा कर फूट गई, तो बस।

सरोजिनी—(किताब निकालती हुई) बस, फिर वही वाहियातपने की बातें! यह ले अपनी किताब; पढ़ कर याद कर...

माया—और तुम किसी का फ़ोटो सामने रखकर माला जपो। (खिलखिला कर हँसती हुई प्रस्थान)

(सरोजिनी कुछ देर तक ध्यान से उस फ़ोटो को देखती रहती है, फिर न जाने क्या सोचकर भक्तिभाव से फोटो को नमस्कार कर बड़े यत्न से सामने टाँग देती है और अश्रुपूर्ण नेत्रों से विश्वकवि का अंतिम गान—'सम्मुखे शान्त पारावार'....गाती है। गाकर फिर एक प्रणाम निवेदन कर गम्भीर मुद्रा से घूम कर खिन्न मन से कुर्सी पर बैठ जाती है। टेबिल लैंप बुझाकर दीवार का धुँधला हरा बल्ब जला देती है और कपड़े बदलने का उपक्रम करती है, कि इसी बीच कमरे में निःशब्द रूप से विश्वकवि का प्रवेश। ड्रेसिंग गाउन के ढंग का लंबा काला चोगा; जैसा वे अपनी ईरान-यात्रा के समय पहना करते थे और वैसी ही ऊँची टोपी। टैगोर की मूर्ति चुपचाप दहलीज के पास स्थिर हो जाती है, क्रमशः सरोजिनी का ध्यान उधर आकृष्ट होता है। पैर

से लेकर धीरे धीरे गर्दन उठाती है और उनका सर्वांग देखती हुई उसकी दृष्टि उनके सौम्य मुखमंडल तक पहुँचती है, तो एक हलकी चीख उसके मुँह से निकल जाती है।)

सरोजिनी—आप कौन हैं ?

टैगोर—(अभयसूचक मधुर स्वर में) ग़ौर से देखो, पहचानने की कोशिश करो।

सरोजिनी—(तुरन्त अपने को सँभाल कर) मैं तो नहीं पहचानती आपको।

टैगोर—तो मैं चला ! (चलते हुए)

सरोजिनी—(काफी प्रकृतिस्थ होकर, कुछ आशासूचक स्वर में) ठहरिए।

टैगोर—(लौटकर) कहो, क्या है ?

सरोजिनी—(कुछ कठोर मुद्रा से) आप रात को यहाँ आये किस तरह ? यहाँ कोई पुरुष यों नहीं आ सकता।

टैगोर—यों, बिना बुलाये मैं कहीं जाने का आदी भी नहीं। तुम लोगों ने आज मुझे याद किया था, इसी से चला आया था।

सरोजिनी—क्या कहा ? हम लोगों ने आपको याद किया था।

टैगोर—याद ही भर नहीं, इस आशय की नोटिसें भी अखबारों में छपी थीं।

(अभी तक मानो संदेह होते हुए भी वह मानने को तैयार नहीं थी, कि यह वही हैं। सरोजिनी एक बार फोटो को ओर देखती है, फिर नवागत के मुख की ओर। टैगोर एक शान्त मुसकराहट के बाद कहते हैं)

टैगोर—अब शायद पहचान रही हो, ऐसा जान पड़ता है ।

सरोजिनी—(एकदम सन्नाटे में आकर) तो आप क्या.....

टैगोर—(अभयदान की सी हँसी हँसते हुए) इसी बूते पर अभी अभी बड़े दून की हाँक रही थीं, कि मैं भूत-वूत से नहीं डरती ?

(सरोजिनी मारे भय के काठ हो जाती है)

टैगोर—डरो मत, मेरे द्वारा तुम्हारा कोई अनिष्ट नहीं हो सकता ।

सरोजिनी—(अत्यन्त आश्चर्य की मुद्रा से) आप ! विश्वकवि टैगोर !

टैगोर—खैर, पहचाना तो इतनी देर बाद ।

सरोजिनी—तो क्या आप भूत होकर...

टैगोर—कम से कम 'वर्तमान' नहीं हूँ, इसका सबूत तो तुम्हीं ने अभी दे दिया । सामने आकर खड़ा हो गया, तो भी तुम न पहचान पाईं और पहचाना भी इतनी देर बाद तो डर के मारे बुरा हाल हुआ जा रहा है । तुम्हारे साथ दो-दो बातें करना चाहता था; पर वह न हो सका । (कुछ रुक कर) खैर, मेरी वजह से बड़ी तकलीफ हुई तुम सबको; जाओ सो रहो, काफी रात हो गई ।

(सरोजिनी चुपचाप खड़ी है निरुत्तर)

टैगोर—मैं भी चलूँ, जाओ, सोओ, सुबह उठकर समझना कि भूत का एक सपना देखा था । (हँसते हैं)

सरोजिनी—(काफी प्रकृतिस्थ होकर) आपकी बातों से अब

मुझे डर नहीं लग रहा है। ऐसा लगता है मानो सचमुच आप अभी हम लोगों के बीच मौजूद हैं।

टैगोर—(हँसते हुए) इसमें भी कोई शक है? कम से कम अखबारों के पन्नों में तो हूँ ही मौजूद! खैर मेरी बात छोड़ो; जरा तुम्हारी बातें सुनूँ दो एक; अगर डर छूट गया हो। कौन क्लास में पढ़ती हो तुम?

सरोजिनी—एम० ए० फ़ाइनल में हूँ, इस वक्त।

टैगोर—एम० ए० फ़ाइनल! वाह वाह! बहुत अच्छा, बहुत अच्छा! मेरी नतिनी ने जब एम० ए० पास किया था, तो मैं बड़ा खुश हुआ था। मैंने पूरी शेक्सपियर ग्रंथावली का सुन्दर संस्करण उसे उपहार में दिया था। तुम्हारी मगर अभी तक शादी नहीं हुई, क्यों?

सरोजिनी—जी नहीं!

टैगोर—क्यों? अभी तक क्यों नहीं हुई शादी?

सरोजिनी—आप यह बात कह रहे हैं! आप तो बाल-विवाह के घोर विरोधी थे—शान्ति-निकेतन की लड़कियों को किसने इस प्रथा से विद्रोह करने का मन्त्र दिया था?

टैगोर—हमारे युवाकाल में दुधमुँही बच्चियों का विवाह कर दिया जाता था, खासकर हमारे प्रांत में। इसी से मैं इस कुप्रथा के पीछे पड़ गया था। पर इसके यह मानो नहीं कि समय आने पर भी विवाह न करो। तुम्हारी उस उच्च शिक्षा से लाभ ही क्या, यदि तुम देश को सुसन्तान न दे सको?

सरोजिनी—क्या यही एकमात्र आदर्श आपने शान्ति-निकेतन

की लड़कियों के सामने रक्खा था ?

टैगोर—एकमात्र यही नहीं, पर एक मुख्य आदर्श यह अवश्य था। मातृत्व नारी-जीवन की पहली और सबसे प्रबल आकांक्षा है।

सरोजिनी—पर स्वावलंबन का पाठ भी तो आप ही ने हम लोगों को पढ़ाया था।

टैगोर—क्या मातृत्व और स्वावलंबन दोनों का निर्वाह नहीं हो सकता ?

सरोजिनी—आधुनिक समाज और सभ्यता तो कम से कम यही बताते हैं, कि दोनों बातें असम्भव हैं।

टैगोर—यदि सचमुच ऐसा है, तो ऐसी सभ्यता और समाज तुम्हारे काम का नहीं है। आखिर तुम और करोगी ही क्या ?

सरोजिनी—(कुछ हँसकर) क्यों ? नौकरी करूँगी।

टैगोर—किसलिए ?

सरोजिनी—स्वतन्त्रतापूर्वक जीवन-निर्वाह के लिए। 'अपने थोड़े से खर्च के लिए पति या किसी और का मुहताज होना अपमान-जनक है', यह शिक्षा भी तो आप ही लोग देते आ रहे हैं।

टैगोर—तुमने गलत समझा है हमारी शिक्षा को। और अगर सचमुच हमारी शिक्षा का यही मतलब था, तो हमीं ने भयानक भूल की है। पर यह जो तुम लोग नौकरी करती हो, इसमें क्या वह स्वावलंबन या स्वतन्त्रता सम्भव है, जो तुम्हें इतनी प्रिय है ? पर कहाँ, इस आदर्श पर चलते हुए भी तुम लोगों को आज प्रसन्न या सन्तुष्ट तो नहीं देख पा रहा हूँ। आज झुंड की झुंड

उच्च शिक्षा प्राप्त लड़कियों को देखा मैंने, पर वास्तविक स्फूर्ति या प्रसन्नता की छाप किसी एक के चेहरे पर भी न मिली। एक झूठी हँसी-खुशी का बनावटी नकाब मानो सब डाले हुए थीं; पर उसके नीचे ही विषाद की गंभीर छाया सबकी आकृति पर स्पष्ट थी। ये सभी कुमारी होती हुई भी यौवन और स्वास्थ्य की अन्तिम सीमा पर पहुँची जान पड़ीं। इस दीर्घ शिक्षा काल में ही तुम लोग अपने अनमोल स्वास्थ्य और यौवन को बलि दे डालती हो। क्यों ? इसी का कारण जानने ही मैं आया हूँ तुम्हारे पास आज। और अब तक तुम्हारी शादी नहीं हुई, क्यों ? बोलो।

सरोजिनी—(नैराश्य से) शादी हो कैसे, पात्र मिले तब तो ?

टैगोर—क्यों ? क्या देश में पुरुष नहीं रहे ?

सरोजिनी—अच्छे पात्र के लिए दहेज की भारी रकम चाहिए। मेरे पिता गरीब हैं। कहाँ से लायें इतना रुपया ?

टैगोर—(आश्चर्य से) तुम गरीब की लड़की हो ! तुम्हारी वेश-भूषा देखते हुए कौन विश्वास करेगा कि...मैंने तो समझा था तुम कोई राजा-रईस की लड़की होगी ! (साड़ी की ओर लक्ष्य करते हैं)

सरोजिनी—यह सब कुछ नहीं, साफ-सुथरा रहना ही पड़ता है। यह जो साड़ी देख रहे हैं यह सिर्फ दस रुपये की तो है ही।

टैगोर—(गंभीर मुद्रा से) जिस देश के औसत आदमी की आमदनी रोजाना दस पैसे हो, वहाँ की लड़की के लिए दस रुपए की साड़ी निश्चय ही भयावह है। तुम्हारे पिता की क्या तनखाह है ?

सरोजिनी—दो सौ।

टैगोर—तब तो काफ़ी ऊँची तनखाह है। इस पर भी वह तुम्हारे लिए पात्र नहीं जुटा सके!

(सरोजिनी चुप)

टैगोर—तो वह नहीं जुटा सके, न सही। तुम तो अब बालिग हो और शिक्षित हो, तुम खुद क्यों नहीं किसी को पसन्द कर ब्याह कर लेतीं?

सरोजिनी—(मुँह बिचका कर) सब वाहियात, किसे पसन्द करें?

टैगोर—(अति गंभीर) ठीक कहती हो, हैं वाक़ई सब वाहियात! (ज़रा रुककर कुछ उत्तेजित स्वर में) मगर देखो, इस भयानक स्थिति का उत्तरदायित्व तुम्हीं लोगों पर है।

सरोजिनी—(विस्मय से) हम लोगों पर?

टैगोर—(दृढ़ता से) हाँ, तुम्हीं लोगों पर। नारी के मन की कामना ही तो पुरुष का चरित्र बनाती है। तुम लोग आज के पुरुष में सिर्फ़ रुपया खोजती हो। मनुष्यत्व और वीरत्व की माँग ही नहीं है तुम्हारी। बँगला, मोटर और फ़ैशन निभाने के लिए तुमको सिर्फ़ रुपया चाहिये। इसी माँग के फलस्वरूप आज का पुरुष सिर्फ़ रुपए बनाने की मशीन हो रहा है, वह रुपया चाहे नौकरी, चोरी या बटमारी से आवे। इसी से आज देश नौकरों और जुआखोरों से व्याप्त है। तुम्हीं ने इनकी सृष्टि की है, अब अफ़सोस क्यों करती हो? तुम लोग जिस दिन पैसे को तुच्छ समझ कर मनुष्यत्व और वीरत्व को वरण करोगी उस

दिन इन्हीं अपदार्थों में से सच्चे मनुष्य की सृष्टि होगी। (कुछ रुक कर यकायक) अच्छा, यह तुम लोगों की मति क्यों मारी गई ? पहले स्त्रियाँ देवी भगवती से यह वर माँगती थीं, कि मुझे 'शिव समान' स्वामी मिलें.....जो शिव दरिद्र किन्तु मृत्युञ्जय, नीलकंठ.....

सरोजिनी—(कुछ कुंठित सी) हमारे देश में अच्छे लड़के हैं ही नहीं, यह तो मैं कहती नहीं। ऐसे भी हैं जो महान् आदर्श के लिए प्राण तक की आहुति दे सकते हैं।

टैगोर—(सोल्लास) बस, ऐसे तो चाहिए ही, ऐसों में से ही किसी एक को पसन्द कर लो न।

(सरोजिनी हँस पड़ती है।)

टैगोर—ओह ! तो किसी को पसन्द कर रक्खा है।

सरोजिनी—सिर्फ़ मेरी पसन्द से क्या आता जाता है।

टैगोर—फिर और किसकी ?

सरोजिनी—क्यों माता-पिता, समाज.....

टैगोर—सुपात्र को व्याह करने में ये क्या बाधक हैं ?

सरोजिनी—यदि हों तब ?

टैगोर—(विमर्ष से) देखता हूँ, इस देश के दिन कभी नहीं फिरने के। अरे बाबा, यदि ये बाधक हों भी तो तुम मानने क्यों लगीं ? आखिर इतना पढ़ा-लिखा किस दिन के लिए। प्रकाश के सामने अंधकार क्यों रहे ? विधवा-विवाह का भी घोर विरोध सनातनियों ने किया था, पर क्या हम लोगों ने माना ?

सरोजिनी—तो फिर आप विद्रोह करने का आदेश देते हैं !

टैगोर—निश्चय !

सरोजिनी—(प्रसन्नता से खिल उठती है, ज़रा ठहर कर यकायक) अच्छा उसकी शक्ल देखेंगे आप? ठहरिए उसका फ़ोटो ले आती हूँ......

(तेज़ी से भीतर की ओर प्रस्थान और एक संदूक खोलना, इधर से निःशब्द विश्वकवि का प्रो० चौधरी के रूप में रूपान्तरित हो जाना। वह एक क्षण में टोपी, चोग़ा और नकली दाढ़ी वग़ैरह फेंक कर धोती-कुरते में एक नवयुवक के रूप में रह जाता है। इधर सरोजिनी उसी का फ़ोटो सामने किये हुए झपटकर आती है, पर सामने उसको साक्षात् खड़ा देख एक बार फिर हलकी चीख के साथ सन्नाटे में आ जाती है और यह करती हुई लड़खड़ाकर गिरने को होती है

सरोजनी—अरे चौधरी.....? क्या तुम ही टैगोर बन कर.....

(भावावेश से उसे मूर्छा सी आने लगती है कि चौधरी उसे सँभाल लेता है)

———

भोर का तारा

(श्री जगदीशचन्द्र माथुर)

समय—सन् ४५५ ई० के आस-पास।

स्थान—गुप्त-साम्राज्य की राजधानी उज्जयिनी में एक साधारण कवि का गृह।

पात्र

शेखर—उज्जयिनी का कवि।

माधव—गुप्त-साम्राज्य में एक राज्य-कर्मचारी (शेखर का मित्र)।

छाया—शेखर की प्रेयसी, बाद में पत्नी।

(१)

(कवि शेखर का गृह। सब वस्तुएँ अस्त-व्यस्त। बाईं ओर एक तख्त पर मैली फटी हुई चद्दर बिछी है। उस पर एक चौकी भी रक्खी है और लेखनी इत्यादि भी। इधर-उधर भोजपत्र (या काग़ज़) बिखरे हुए पड़े हैं। एक तिपाई भी है, जिस पर कुछ पात्र रक्खे हुए हैं। पीछे की ओर खिड़की है। बायाँ दरवाज़ा अन्दर जाने के लिए है, और दायाँ बाहर से आने के लिए। दीवारों में कई आले या ताख़ हैं, जिनमें दीपदान या कुछ और वस्तुएँ रक्खी हैं। शेखर कुछ गुनगुनाते हुए टहलता है, या कभी-कभी तख्त पर बैठ जाता है। जान पड़ता है,

यह संलग्न है। तल्लीन मुद्रा। जो कुछ वह कहता है, उसे लिखता भी जाता है)

"अँगुलियाँ आतुर तुरत पसार"

खींचते नीले पट का छोर...(दुबारा कहता है, फिर लिखता है

टँगा जिसमें जाने किस ओर...

स्वर्ण-कण...स्वर्ण-कण.....(पूरा करने के प्रयास में तल्लीन है। इतने में बाहर से माधव का प्रवेश। सांसारिक अनुभव और जानकारी उसके चेहरे से प्रगट है। द्वार के पास खड़ा होकर वह थोड़ी देर तक कवि की लीला देखता है। उसके बाद—)

माधव—शेखर !

शेखर—(अभी सुना ही नहीं। एक पंक्ति लिखकर) स्वर्ण-कण प्रिय को रहा निहार।

मा०—शेखर !

शे०—(चौंककर) कौन ? ओह ! माधव ! (उठकर माधव की ओर बढ़ता है)

मा०—क्या कर रहे हो शेखर ?

शे०—यहाँ आओ माधव, यहाँ। (उसके कंधों को पकड़कर तख्त पर बिठाता हुआ) यहाँ बैठो। (स्वयं खड़ा है) माधव, तुमने भोर का तारा देखा है कभी ?

मा०—(मुसकराते हुए) हाँ ! क्यों ?

शे०—(बड़ी गम्भीरतापूर्वक) कैसा अकेला-सा, एकटक देखता रहता है ? जानते हो ?...नहीं जानते ! (तख्त के दूसरे भाग पर बैठता हुआ) बात यह है कि एक बार रजनी बाला अपने प्रियतम

प्रभात से मिलने चली, गहरे नीले कपड़े पहनकर जिसमें सोने के तारे टँके थे। ज्यों ही निकट पहुँची, त्यों ही लाज की आँधी आई और बेचारी रजनी को उड़ा ले चली। (रुककर) फिर क्या हुआ ?

मा०—(कुछ उद्योग के बाद) प्रभात अकेला रह गया ?

शे०—नहीं, उसने अपनी अँगुलियाँ पसार कर उसके नीले पट का छोर खींच लिया। जानते हो, यह भोर का तारा है न ? उसी छोर में टँका हुआ सोने का कण है, एकटक प्रियतम प्रभात को निहार रहा है......क्यों ?

मा०—बहुत ऊँची कल्पना है। लिख चुके क्या ?

शे०—अभी तो और लिखूँगा। बैठा ही था कि इतने में तुम आ गये...

मा०—(हँसते हुए) और तब तुम्हें ध्यान हुआ कि तुम धरती पर ही बैठे थे, आकाश में नहीं। (रुककर) मुझे कोस तो नहीं रहे हो शेखर ?

शे०—(भोलेपन से) क्यों ?

मा०—तुम्हारी परियों और तारों की दुनियाँ में मैं मनुष्यों की दुनियाँ लेकर आ गया।

शे०—(सच्चेपन से) कभी कभी तो मुझे तुममें भी कविता दीख पड़ती है।

मा०—मुझमें ?.....(जोर से हँसकर) तुम अठखेलियाँ करना भी जानते हो ?... (गम्भीर होते हुए) शेखर, कविता तो कोमल हृदयों की चीज है। मुझ-जैसे काम-काजी राजनीतिज्ञों

और सैनिकों के तो छूने भर से मुरझा जाएगी। हम लोगों के लिए तो दुनियाँ की और ही उलझनें बहुत हैं।

शे०—माधव, तुमने कभी यह भी सोचा है कि इन उलझनों से बाहर निकालने का मार्ग भी हो सकता है?

मा०—और हम लोग करते ही क्या हैं? रात-दिन मनुष्यों की उलझनें सुलझाने का ही तो उद्योग करते हैं।

शे०—यही तो नहीं करते। तुम राजनीतिज्ञ और मन्त्री लोग बड़ी संजीदगी के साथ अमीरी, गरीबी, युद्ध और सन्धि की समस्याओं को हल करने का अभिनय करते हो परन्तु मनुष्य को इन उलझनों के बाहर कभी नहीं लाते। कवि इसका प्रयत्न करते हैं, पर तुम उन्हें पागल··

मा०—कवि? (अवहेलनापूर्वक) तुम उलझनों से बाहर निकलने का प्रयास नहीं करते, तुम उन्हें भूलने का प्रयास करते हो। तुम सपना देखते हो कि जीवन सौन्दर्य है, हम जानते रहते हैं और देखते हैं कि जीवन कर्तव्य है।

शे०—(भावुकता से) मुझे तो सौंदर्य ही कर्तव्य जान पड़ता है। मुझे तो जहाँ सौन्दर्य दीख पड़ता है वहाँ कविता दीख पड़ती है, वहीं जीवन दीख पड़ता है (स्वर बदलकर) माधव! तुमने सम्राट् के भवन के पास राजपथ के किनारे उस अंधी भिखमंगी को कभी देखा है?

मा०—(मुसकराहट रोकते हुए) हाँ।

शे०—मैं उसे सदा भीख देता हूँ। जानते हो क्यों?

मा०—क्यों! (कुछ सोचने के बाद) दया सज्जन का

भूषण है।

शे०—दया ? हुँ ! (ठहरकर) मैं तो उसे इसलिए भीख देता हूँ क्योंकि मुझे उसमें एक कविता, एक लय, एक कला झलक पड़ती है। उसका गहरा झुर्रियोंदार चेहरा, उसके काँपते हुए हाथ, उसकी आँखों के बेबस गड्ढे (एक तरफ एकटक देखते हुए, मानो इस मानसिक चित्र में खो गया हो) उसकी झुकी हुई कमर—माधव, मुझे तो ऐसा जान पड़ता है मानो किसी शिल्पी ने उसे इस ढाँचे में ढाला हो।

मा०—(इस भाषण से उसका अच्छा खासा मनोरंजन हो गया जान पड़ता है। खड़े होकर शेखर पर शरारत भरी आँखें गड़ाते हुए) शेखर टाट में रेशम का पैवन्द क्यों लगाते हो ? ऐसी कविता तो तुम्हें किसी देवी की प्रशंसा में करनी चाहिए थी।

शे०—(सरल भाव से) किस देवी की ?

मा०—(अर्थपूर्ण स्वर में) यह तो उसके पुजारी से पूछो।

शे०—मैं तो नहीं जानता किसी पुजारी को।

मा०—अपने को आज तक किसी ने जाना है, शेखर ? (हँस पड़ता है। शेखर कुछ समझकर झेंपता-सा है)...पागल !... (गम्भीर होकर बैठते हुए) शेखर, सच बताओ, तुम छाया को प्यार करते हो ?

शे०—कितनी बार पूछोगे ? (मन्द, गहरे स्वर में)...

मा०—बहुत प्यार करते हो ?

शे०—माधव जीवन में मेरी दो ही तो साधनाएँ हैं (तख्त से उठकर खिड़की की ओर बढ़ता हुआ) छाया का प्यार और

कविता। (खिड़की के सहारे दर्शकों की ओर मुँह करके खड़ा हो जाता है)

मा०—और छाया?

शे०—हम दोनों नदी के दो किनारे हैं, जो एक दूसरे की ओर मुड़ते हैं पर मिल नहीं पाते।

मा०—(उठकर शेखर के कन्धे पर हाथ रखते हुए) सुनो शेखर, नदी सूख भी तो सकती है।

शे०—नहीं माधव, उसके भाई देवदत्त से किसी तरह की आशा करना व्यर्थ है। मेरे लिए तो उनका हृदय सूखा हुआ है।

मा०—क्यों?

शे०—तुम पूछते हो क्यों? तुम भी तो सम्राट् स्कन्दगुप्त के दरबारी हो। देवदत्त एक मंत्री हैं। भला, एक मंत्री की बहन का एक मामूली कवि से क्या सम्बन्ध?

मा०—मामूली कवि! शेखर तुम अपने को मामूली कवि समझते हो?

शे०—और क्या समझूँ? राजकवि?

मा०—सुनो शेखर, तुम्हें एक खबर सुनाता हूँ।

शे०—खबर?

मा०—हाँ, मैं कल रात को राजभवन गया था।

शे०—इसमें तो कोई नई बात नहीं। तुम्हारा तो काम ही यह है।

मा०—नहीं, कल एक उत्सव था। स्वयं सम्राट् ने कुछ लोगों को बुलाया था। गाने हुए, नाच हुए, दावत हुई। एक युवती ने बहुत सुन्दर गीत सुनाया। सम्राट् तो उस गीत पर रीझ गये।

शे०—(उकताकर) आखिर तुम यह सब मुझे क्यों सुना रहे हो, माधव ?

मा०—इसलिए कि सम्राट् ने उस गीत बनाने वाले का नाम पूछा। पता चला कि उसका नाम था शेखर !

शे०—(चौंककर) क्या ?

मा०—अभी और तो सुनो। उस युवती ने सम्राट् से कहा कि अगर आपको यह गाना पसन्द है, तो इसके लिखने वाले कवि को अपने दरबार में बुलाइये। अब कल से वह कवि महाराजाधिराज सम्राट् स्कंदगुप्त विक्रमादित्य के दरबार में जाएगा।

शे०—मैं ?

मा०—(अभिनय-सा करते हुए, झुककर) श्रीमन्, क्या आप ही का नाम शेखर है ?

शे०—मैं जाऊँगा सम्राट् के दरबार में ? माधव, सपना तो नहीं देख रहे हो ?

मा०—सपने तो तुम देखा करते हो। लेकिन अभी मेरा समाचार पूरा कहाँ हुआ है ?

शे०—हाँ, वह युवती कौन है ?

मा०—अब यह भी बताना होगा ? तुम भी बुद्धू हो। क्या इसी बूते पर प्रेम करने चले थे ?

शे०—ओह ! छाया !...(माधव का हाथ पकड़ते हुए)... तुम कितने अच्छे हो !

मा०—और सुनो।...सम्राट् ने देवदत्त को आज्ञा दी है कि वह तक्षशिला जाकर वहाँ के क्षत्रप वीरभद्र को दबाएँ। आर्य

देवदत्त के साथ मैं भी जाऊँगा, उनका मंत्री बनकर। समझे ?

शे०—(स्वप्न-से में) तो क्या सच हो छाया ने कहा ? सच ही ?

मा०—शेखर, आठ दिन बाद आर्य देवदत्त और मैं तक्ष-शिला चल देंगे।...उसके बाद—उसके बाद छाया कहाँ रहेगी ? भला, बताओ तो ?

शे०—माधव !...(माधव हँस पड़ता है) इतना भाग्य ? इतना...विश्वास नहीं होता।

मा०—न करो विश्वास !...लेकिन भले मानस, छाया क्या इस कूड़े में रहेगी ? ये बिखरे हुए कागज, टूटी हुई चटाई, फटे हुए वस्त्र। शेखर, लापरवाही की भी सीमा होती है।

शे०—मैं कोई इन बातों की परवाह करता हूँ।

मा०—और फिर ?

शे०—मैं परवाह करता हूँ फूल की पँखुड़ियों पर जगमगाती हुई ओस की, (भावोद्रेक से) संध्या में सूर्य की किरणों को अपनी गोद में सिमेटने वाले बादल के टुकड़ों की, सुबह को आकाश के कोने में टिमटिमाने वाले तारे की।

मा०—एक चीज रह गई।

शे०—क्या ?

मा०—जिसे तुम वृक्षों के नीचे दिन में फैली देखते हो। (उठकर दूर खड़ा हो जाता है।)

शे०—वृक्षों के नीचे ?

मा०—जिसे तुम दर्पण में झलकती देखते हो।

शे०—दर्पण में ?

मा०—जिसे तुम अपने हृदय में हमेशा देखते हो। (निकट आ गया है)

शे०—(समझकर, बच्चों को तरह) छाया !

मा०—(मुसकराते हुए) छाया !

(पर्दा गिरता है)

(२)

(उज्जयिनी में आर्य देवदत्त का भवन जिसमें अब शेखर और छाया रहते हैं। कमरा सजा हुआ और साफ है। दीवारों पर कुछ चित्र खिंचे हुए हैं। कोने में धूपदान भी है। सामने तख्त पर चटाई और लिखने-पढ़ने का सामान है। बराबर में एक छोटी चौकी पर कुछ ग्रन्थ रक्खे हुए हैं। दूसरी ओर एक पीढ़ा है, जिसके निकट मिट्टी की किन्तु कलापूर्ण, एक अँगीठी रक्खी हुई है। दीवार के एक भाग पर एक अलँगनी है, जिस पर कुछ धोतियाँ इत्यादि टँगी हैं।

छाया, सौंदर्य की प्रतिमा, चांचल्य, उन्माद और गाम्भीर्य का जिसमें स्त्री-सुलभ सम्मिश्रण है, गृहस्वामिनी होने के नाते कमरे की सब वस्तुएँ ठीक-ठीक स्थान पर सम्हालकर रख रही है। साथ ही कुछ गुन-गुनाती भी जाती है। जाड़ा होने के कारण तापने के लिए उसने अँगीठी में अग्नि प्रज्वलित कर दी है। कुछ देर बाद पीढ़े पर बैठकर वह अँगीठी को ठीक करती है। उसकी पीठ द्वार की ओर है। अपने कार्य और गान में इतनी संलग्न है कि उसे बाहर पैरों की आवाज़ नहीं सुनाई देती।

गीत

प्यार की है क्या यह पहचान ?

चाँदनी का पाकर नव स्पर्श, चमक उठते पत्ते नादान;

पवन को परस सलिल की लहर, नृत्य में हो जाती लयमान;
सूर्य का सुन कोमल पदचाप, फूट उठता चिड़ियों का गान;
तुम्हारी तो प्रिय केवल याद, जगाती मेरे सोये प्राण।
प्यार की है क्या यह पहचान ?

(धीरे से शेखर का प्रवेश। कन्धे और कमर पर ऊनी दुशाला है, बगल में ग्रन्थ। गले में फूलों की माला है। द्वार पर चुपचाप खड़ा होकर मुसकराते हुए छाया का गीत सुनता है।)

शे०—(थोड़ी देर बाद, धीरे से) छाया! (छाया नहीं सुन पाती है। गाना जारी है। फिर कुछ समय बाद) छाया !!

छा०—(चौंककर खड़ी हो जाती है। मुख फेरकर) ओह !

शे०—(तख्त की ओर बढ़ता हुआ) छाया, तुम्हें एक कहानी मालूम है ?

छा०—(उत्सुकतापूर्वक) कौन सी ?

शे०—(छोटी चौकी पर पहले तो अपनी बगल का ग्रन्थ रखता है, और फिर उस पर दुशाला रखते हुए) एक बहुत सुन्दर-सी।

छा०—सुनें, कैसी कहानी है ?

शे०—(बैठकर) एक राजा के यहाँ एक कवि रहता था, युवक और भावुक। राजभवन में सब लोग उसे प्यार करते थे। राजा तो उस पर निछावर था। रोज़ सुबह राजा उसके मुँह से नई कविता सुनता था, नई और सुन्दर कविता।

छा०—हूँ ? (पीढ़े पर बैठ जाती है, चिबुक को हथेली पर टेकती है)

शे०—परन्तु उसमें एक बुराई थी।

छा०—क्या ?

शे०—वह अपनी कविता केवल सुबह के समय सुनाता था। यदि राजा उससे पूछता कि तुम दोपहर या संध्या को अपनी कविता क्यों नहीं सुनाते, तो वह उत्तर देता—'मैं केवल रात के तीसरे पहर में कविता लिख सकता हूँ'।

छा०—राजा उससे रुष्ट नहीं हुआ ?

शे०—नहीं। उसने सोचा कि कवि के घर चलकर देखा जाय कि इसमें रहस्य क्या है ? रात का तीसरा पहर होते ही राजा वेश बदलकर कवि के घर के पास खिड़की के नीचे बैठ गया।

छा०—उसके बाद ?

शे०—उसके बाद राजा ने देखा कि कवि लेखनी लेकर तैयार बैठ गया। थोड़ी देर में कहीं से बहुत मधुर, बहुत सुरीला स्वर राजा के कान में पड़ा। राजा झूमने लगा और कवि की लेखनी आपसे आप चलने लगी।

छा०—फिर ?

शे०—फिर क्या ? राजा महल को लौट आया और उसके बाद उसने कवि से कभी यह प्रश्न नहीं पूछा कि वह सुबह ही क्यों कविता सुनाता था। भला, बताओ तो क्यों नहीं पूछा ?

छा०—बताऊँ ?

शे०—हाँ !

छा०—राजा को यह मालूम हो गया कि उस गायिका के स्वर में ही कवि की कविता थी। और बताऊँ ? (खड़ी हो जाती है)

शे०—(मुसकराते हुए) छाया, तुम—

छा०—(टोककर, शीघ्रता और चंचलता के साथ) वह गायिका और कोई नहीं, उस कवि की पत्नी थी। और बताऊँ ? उस कवि को कहानी सुनाने का बहुत शौक़ था, झूठी कहानी। और बताऊँ ? उस कवि के बाल लम्बे थे, कपड़े ढीले-ढाले, गले में उसके फूलों की माला थी, माथे पर—(इस बीच में शेखर की मुसकराहट हलकी हँसी में परिणत हो गई है, यहाँ तक कि इन शब्दों तक पहुँचते-पहुँचते दोनों ज़ोर से हँस पड़ते हैं।)

शे०—(थोड़ी देर बाद गम्भीर होते हुए) लेकिन छाया, तुम्हीं बताओ—तुम्हारे गान, तुम्हारी प्रेरणा, तुम्हारे प्रेम के बिना मेरी कविता क्या होती ? तुम तो मेरी कविता हो।

छा०—(बड़े गम्भीर, उलहना भरे स्वर में) प्रत्येक पुरुष के लिए स्त्री एक कविता है।

शे०—क्या मतलब तुम्हारा ?

छा०—कविता तुम्हारे सूने दिलों में संगीत भरती है। स्त्री भी तुम्हारे ऊबे हुए मन को बहलाती है। पुरुष जब जीवन की सूखी चट्टानों पर चढ़ता-चढ़ता थक जाता है, तब सोचता है—'चलो, थोड़ा मन बहलाव ही कर लें।' स्त्री पर अपना सारा प्यार, अपने सारे अरमान निछावर कर देता है, मानो दुनियाँ में और कुछ हो ही न। और उसके बाद जब चाँदनी बीत जाती है, जब कविता नीरव हो जाती है, तब पुरुष को चट्टानें फिर बुलाती हैं, और वह ऐसे भागता है मानो पिंजरे से छूटा हुआ पंछी ! और स्त्री ? स्त्री के लिए वही अँधेरा, फिर वही सूनापन।

शे०—(मंद स्वर में) छाया, तुम मेरे साथ अन्याय कर रही हो।

छा०—क्या एक दिन तुम मुझे भी ऐसे छोड़कर न चले जाओगे?

शे०—लेकिन छाया, मैं तुम्हें छोड़कर कहाँ जा सकता हूँ ?

छा०—उँहूँ। मैं नहीं मान सकती।

शे०—सुनो तो; मेरे लिए तो जीवन में ऐसी सूखी चट्टानें थोड़ी ही हैं। मेरी कविता ही मेरी हरी-भरी वाटिका है। मैं उसे प्यार करता हूँ क्योंकि मुझे उसमें सौंदर्य दीखता है। मैं तुम्हें प्यार करता हूँ क्योंकि मुझे तुम्हारे हृदय में सौंदर्य दीखता है। जिस दिन मैं तुमसे दूर हो जाऊँगा, उस दिन मैं सौंदर्य से दूर हो जाऊँगा; अपनी कविता से दूर हो जाऊँगा। (कुछ रुककर) मेरी कविता मर जाएगी।

छा०—नहीं शेखर, मैं मर जाऊँगी किन्तु तुम्हारी कविता रहेगी; बहुत दिन रहेगी।

शे०—मेरी कविता! (कुछ देर बाद)...छाया, आज मैं तुम्हें एक बड़ी विशेष बात बताने वाला हूँ, एक ऐसा भेद जो अब तक मैंने तुमसे भी छिपा रक्खा था।

छा०—रहने दो. तुम ऐसे भेद और ऐसी कहानियाँ सुनाया ही करते हो।

शे०—नहीं।.....अच्छा, तनिक उस दुशाले को उठाओ। (छाया उठाती है) उसके नीचे कुछ है। (छाया उस ग्रन्थ को हाथ में लेती है) उसे खोलो!.....क्या है ?

छा०—(आश्चर्यान्वित होकर) ओह! (ज्यों ज्यों छाया उसके पन्ने उलटती जाती है, शेखर की प्रसन्नता बढ़ती जाती है) 'भोर का तारा'। उफ्फोह! यह तुमने कब लिखा? मुझसे छिपकर?

शे०—(हँसते हुए। विजय का-सा भाव) छाया, तुम्हें याद है

उस दिन की, जब माधव के साथ मैं तुम्हारे भाई देवदत्त से मिलने इसी भवन में आया था ?

छा०—(शेखर की ओर थोड़ी देर देखकर) उस दिन को कैसे भूल सकती हूँ, शेखर ? उसी दिन तो भैया को तक्षशिला जाने की आज्ञा मिली थी, उसी दिन तो हम और तुम...(रुक जाती है)

शे०—हाँ छाया, उसी दिन मैंने इस महाकाव्य को लिखना आरम्भ किया था। (गहरे स्वर में) आज वह समाप्त हो गया।

छा०—शेखर, यह हमारे प्रेम की अमर स्मृति है।

शे०—उसे यहाँ लाओ। (हाथ में लेकर, चाव से खोलता हुआ) 'भोर का तारा'। छाया, यह काव्य बड़ी लगन का फल है। कल मैं इसे सम्राट् की सेवा में ले जाऊँगा। और फिर जब मैं उस सभा में इसे सुनाना आरम्भ करूँगा, उस समय सम्राट् गद्‌गद हो जाएँगे, और मैं कवियों का सिरमौर हो जाऊँगा। छाया, बरसों बाद दुनियाँ पढ़ेगी, कविकुलशिरोमणि शेखरकृत 'भोर का तारा—हा हा हा (विभोर)

(छाया उसकी ओर एकटक देख रही है। सहसा चेहरे पर चिंता की रेखा खिंच जाती है। शेखर हँस रहा है)

छा०—शेखर ! वह हँसे जा रहा है) शेखर ! हँसे जा रहा है) शेखर ! (शेखर की दृष्टि उस पर पड़ती है)

शे०—(सहसा चुप होकर) क्यों छाया, क्या हुआ तुमको ?

छा०—(चिन्तित स्वर में) शेखर ! (चुप हो जाती है)

शे०—कहो।

छा०—शेखर ! तुम इसे सम्हालकर रक्खोगे न ?

शे०—बस, इतनी ही सी बात ?

छा०—शेखर, मुझे डर लगता है कि· · कि· · कहीं यह नष्ट न हो जाय, कोई उसे चुरा न ले जाय, और फिर तुम—

शे०—हा हा हा ! पगली, ऐसा क्यों होने लगा ? सोचने से ही डर गईं ! छाया, छाया, तुम्हारे लिए तो आज प्रसन्न होने का दिन है, बहुत प्रसन्न !···इधर देखो छाया, हम लोग कितने सुखी हैं ? और तुम ? जानती हो, तुम कौन हो ? तुम हो तक्ष-शिला के क्षत्रप देवदत्त की बहन और उज्जयिनी के सब से बड़े कवि शेखर की पत्नी ।· · ·तक्षशिला का क्षत्रप और उज्जयिनी का कवि । हँ हँ हँ !......क्यों छाया ?

छा०—(मन्द स्वर में) तुम सच कहते हो, शेखर । हम लोग बहुत सुखी हैं ।

शे०—(मग्नावस्था में) बहुत सुखी !

(सहसा बाहर कोलाहल । घोड़े के टापों की आवाज । शेखर और छाया छिटककर चैतन्य खड़े हो जाते हैं । शेखर द्वार की ओर बढ़ता है)

शे०—कौन है ?

(सहसा माधव का प्रवेश । थकित और श्रमित; शस्त्रों से सुसज्जित । पसीने से नहा रहा है । चेहरे पर भय और चिन्ता के चिह्न हैं)

शेखर और छाया—माधव !

शे०—माधव, तुम यहाँ कहाँ ?

मा०—(दोनों पर दृष्टि फेंकता हुआ) शेखर, छाया, (फिर उस कमरे पर डरती-सी आँखें डालता है, मानो उस सुरम्य घोंसले को

नष्ट करने से भय खाता हो। कुछ देर बाद बड़े प्रयत्न और कष्ट के साथ बोलता है) मैं तुम दोनों से भीख माँगने आया हूँ।

(छाया और शेखर के आश्चर्य का ठिकाना नहीं है)

छा०—भीख माँगने ?—तक्षशिला से ?

शे०—तक्षशिला से ? माधव, क्या बात है ?

मा०—(धीरे-धीरे मजबूती के साथ बोलना आरंभ करता है, परन्तु ज्यों ज्यों बढ़ता जाता है, त्यों त्यों स्वर में भावुकता आती जाती है) हाँ, मैं तक्षशिला से ही आ रहा हूँ। यहाँ तक कैसे आ पाया, यह मैं नहीं जानता। यात्रा के ये दिन कैसे बीते, यह भी नहीं जानता। हाँ, यह जानता हूँ कि आज गुप्त-साम्राज्य संकट में है और हमें घर-घर भीख माँगनी पड़ेगी !

शे०—गुप्त-साम्राज्य संकट में है ! क्या कह रहे हो माधव ?

मा०—(तंजीदगी के साथ) शेखर, पश्चिमोत्तर सीमा पर आग लग चुकी है। हूणों का सरदार तोरमाण भारतवर्ष पर चढ़ आया है।

छा०—(भयाक्रान्त होकर) तोरमाण ?

मा०—उसने सिन्धुनद को पार कर लिया है, उसने आम्भी राज्य को नष्ट कर दिया है; उसकी सेना तक्षशिला को पैरों तले रौंद रही है।

छा०—(सहसा माधव के निकट जाकर, भय से कातर हो उसकी भुजा पकड़ती हुई) तक्षशिला !

मा०—(उसी स्वर में) सारा पंचनद आज उसके भय से काँप रहा है। एक के बाद एक गाँव जल रहे हैं। हत्याएँ हो रही

हैं। अत्याचार हो रहा है। शीघ्र ही सारा आर्यावर्त पीड़ितों के हाहाकार से गूँजने लगेगा। शेखर, छाया, मैं तुमसे माँगता हूँ, नई भीख माँगता हूँ—सम्राट् स्कन्दगुप्त की, साम्राज्य की, देश की इस संकट में मदद करो। (बाहर भारी कोलाहल। शेखर और छाया जड़वत् खड़े हैं।) देखो, बाहर जनता उमड़ रही है। शेखर, तुम्हारी वाणी में ओज है, तुम्हारे स्वर में प्रभाव। तुम अपने शब्दों के बल पर सोई हुई आत्माओं को जगा सकते हो, युवकों में जान फूँक सकते हो। (शेखर सुने जा रहा है। चेहरे पर भावों का आवेग। मस्तक पर हाथ रखता है) आज साम्राज्य को सैनिकों की आवश्यकता है। शेखर, अपनी ओजमयी कविता के द्वारा तुम गाँव-गाँव में जाकर वह आग फैला दो; जिससे हजारों और लाखों भुजाएँ अपने सम्राट् और अपने देश की रक्षा के लिए शस्त्र हाथ में ले लें। (कुछ रुककर शेखर के चेहरे की ओर देखता है। उसकी मुद्रा बदल रही है—जैसे कोई भीषण उद्योग कर रहा हो) कवि, देश तुमसे वह बलिदान माँगता है।

छा०—(अत्यन्त दर्द भरे करुण स्वर में) माधव ! माधव !

मा०—(मुड़कर छाया की ओर कुछ देर देखता है। फिर थोड़ी देर बाद) छाया उन्होंने कहा था—'मेरे प्राण क्या चीज है, इसमें तो सहस्रों मिट गये और सहस्रों को मिटना है।'

शे०—(मानो नींद से जगा हो) किसने ?

मा०—आर्य देवदत्त ने, अन्तिम समय !

छा०—(जैसे बिजली गिरी हो) माधव, माधव, तो क्या भैया...

मा०—उन्होंने वीरगति पाई है, छाया! (छाया पृथ्वी पर घुटनों पर गिर जाती है। चेहरे को हाथों से ढक लिया है। इस बीच में माधव कहे जाता है। शेखर एक दो बार घूमता है, उसके मुख से प्रकट होता है मानो डूबते को सहारा मिलने वाला है) तक्षशिला से चालीस मील दूर विद्रोही वीरभद्र की खोज में वह हूणों के दल के निकट जा पहुँचे। वहाँ उन्हें ज्ञात हुआ कि वीरभद्र हूणों से मिल गया है। उनके बीस सैनिक आगे हूणों में फँसे हुए थे। वे तक्षशिला लौट सकते थे और अपने प्राण बचा सकते थे। परन्तु एक सच्चे सेनापति की भाँति उन्होंने सैनिकों के लिए अपने प्राण संकट में डाल दिये और मुझे तक्षशिला और पाटलिपुत्र को चेतावनी देने के लिए भेजा। मैं आज—

(सहसा रुक जाता है, क्योंकि उसकी दृष्टि शेखर पर जा पड़ती है। शेखर चौकी के पास खड़ा है। उसके चेहरे पर दृढ़ता और विजय का भाव है। बाहर कोलाहल कम है। शेखर अपना हाथ बढ़ाकर अपने ग्रन्थ 'भोर का तारा' को उठाता है। इसी समय माधव की दृष्टि उस पर पड़ती है। शेखर पुस्तक को कुछ देर चाव से, बिछुड़न से, प्रेम से देखता है। उसके बाद आगे बढ़कर अँगीठी के निकट जाकर उसमें जलती हुई अग्नि को देखता है और धीरे-धीरे उस पुस्तक को फाड़ता है। इस आवाज़ को सुनकर छाया अपना मुख ऊपर को करती है)

छा०—(उसे फाड़ते हुए देखकर) शेखर!

(लेकिन शेखर ने उसे अग्नि में डाल दिया है। लपटें उठती हैं। छाया फिर गिर पड़ती है। शेखर लपटों की तरफ देखता है। फिर छाया की ओर दृष्टिपात करता है, एक सूखी हँसी के बाद बाहर चल

देता है। कोलाहल कम होने के कारण उसके पैरों की आवाज़ थोड़ी देर तक सुनाई देती है। माधव द्वार की ओर बढ़ता है।)

छा०—(अत्यन्त पीड़ित स्वर में) माधव, तुमने तो मेरा प्रभात नष्ट कर दिया। (माधव उसके ये शब्द सुनकर बाहर जाता रुक जाता है। मुड़कर छाया की ओर देखता है और फिर पीछे की खिड़की के निकट जाकर उसे खोल देता है। इससे बाहर का कोलाहल स्पष्ट सुनाई देता है। शेखर और उसके साथ पूरे जन-समूह के गाने का स्वर सुन पड़ता है—

नक्कार पै डंका बजा है, तू शस्त्रों को अपने सँभाल।
बुलाती है वीरों को तुरही, तू उठ कोई रस्ता निकाल॥

शेखर का स्वर तीव्र है। माधव खिड़की को बन्द कर देता है। पुनः शान्ति। इसके बाद मंद परन्तु दृढ़ स्वर में बोलता है।)

मा०—छाया, मैंने तुम्हारा प्रभात नष्ट नहीं किया। प्रभात तो अब होगा। शेखर तो अब तक भोर का तारा था; अब वह प्रभात का सूर्य होगा।

(छाया धीरे-धीरे अपना मस्तक उठाती है)

(पर्दा गिरता है)